साहित्यकार-साहित्य-माला

साहित्य के प्रेमियों और अध्येताओं के लाभार्थ साहित्यकारों की समीक्षा और साहित्य के विविध अंगों की विवेचना ग्रंथमाला के रूप में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। इस माला की पुस्तकों में संक्षेप में कवियों और लेखकों की विविध प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन रहेगा तथा उनकी रचना का, विशेषतः पद्य का, छोटा-सा संग्रह भी आवश्यक टीका-टिप्पणी के साथ उनमें संलग्न किया जायगा। पुस्तकें प्रायः एक ही आकार-प्रकार की होंगी। इनमें प्रामाणिक सामग्री का आकलन किया जायगा और अधिकारी विद्वान् इनके प्रणेता होंगे। थोड़े पृष्ठों में अधिक से अधिक, अच्छी से अच्छी सामग्री और सभी अपेक्षित विषयों का समावेश रहेगा। शैली सुबोध और सरल होगी।

× × ×

इस माला में प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें दो प्रकार की होंगी—

(१) कवियों और लेखकों पर आलोचनात्मक पुस्तकें।

(२) साहित्य के विविध अंगों का विवेचन और उनका ऐतिहासिक विकास।

संप्रति प्रस्तावित सूची इस प्रकार है—

(१) साहित्यकार-समीक्षा

विद्यापति, कबीर, तुलसीदास, सूर, केशव, घनआनंद, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल।

इस वर्ग की पुस्तकों में साहित्यकार का जीवनवृत्त, उसकी संपूर्ण

कृतियों का परिचय, कृतियों की आलोचना तथा रचना के कुछ चुने हुए उदाहरण—आवश्यक टीका-टिप्पणी सहित रहेंगे ।

(२) साहित्य-विवेचना

काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध और शैली, आलोचना । इस वर्ग की प्रत्येक पुस्तक में साहित्य के उस अंग की रचना-प्रक्रिया का भारतीय और पश्चिमी शास्त्रों की दृष्टियों से तुलनात्मक विवेचन. शाखा-भेद, उद्भव और विकास का मार्मिक विवेचन रहेगा ।

× × ×

साहित्यकार-साहित्य-माला का प्रथम पुष्प 'विद्यापति' प्रकाशित किया जा रहा है । प्रस्तावित योजना के अनुसार इसमें कवि का जीवनवृत्त, उसकी रचनाओं का विवेचन और 'पदावली' की अनेक दृष्टियों से समीक्षा की गयी है । 'विद्यापति' की साहित्यिक समीक्षा पर अभी तक कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है । जो पुस्तकें निकली हैं उनमें या तो उनके जीवन-वृत्त और इतिहास का विस्तारपूर्वक विचार है या उनकी पदावली की प्रशंसात्मक समीक्षामयी व्याख्या है अथवा तुलनात्मक सरणि पर अनेक कवियों की रचनाओं के उद्धरण देकर विद्यापति की पदावली से उनका मिलान किया गया है ।

प्रस्तुत पुस्तक में साहित्यिक समीक्षा विविध शीर्षकों के अंतर्गत समाप्त कर लेने के अनन्तर विद्यापति की पदावली से ६०-६१ पद संगृहीत किये गये हैं । ध्यान यह रखा गया है कि इसमें ऐसे ही पदों का चयन हो जिनमें काव्य-वैभव की विविध प्रकार की झाँकियाँ मिल सकें, पर श्रृंगार का ऐसा अंश कहीं भी न रहे जो अध्येताओं और अध्यापकों के निःसंकोच पठन-पाठन में बाधक हो । ऐसा करने में कहीं-कहीं किसी गृहीत पद की एकाध पंक्ति हटा भी देनी पड़ी है । पाठों का निश्चय करने के लिए पदावली के सभी मुद्रित संस्करण देखे गये पर हर दृष्टि से सबसे अच्छा पाठ श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की 'विद्यापति की पदावली' में ही दिखाई

दिया। फिर भी उनके स्वीकृत पाठों और रूपों से यथास्थान भेद करना पड़ा है। 'पदावली' से संगृहीत इन पदों की आरंभ में विस्तृत टीका की गयी है, क्योंकि पुरानी कविता होने के कारण प्रत्येक पद के वाक्यों का सुसंबद्ध अर्थ करने में जिज्ञासुओं को प्रायः काठिन्य का बोध होता है। पर आगे चलकर पुनरुक्ति बचाने, निरर्थक आकार-वृद्धि से बचने के प्रयत्न में केवल कुछ विस्तृत टिप्पणियों भर की योजना से काम चलाया गया है। अंत में 'पद-प्रतीक' और 'अनुक्रमणिका' जोड़कर सब प्रकार की सुविधाएँ एकत्र कर देने का प्रयास रहा है।

भूमिका में हिंदी-साहित्य की परंपरा से 'विद्यापति' की पदावली के संबंध का अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है।

'कीर्तिलता' का विस्तृत विवेचन और विविध दृष्टियों से उसपर कुछ अध्यायों के नियोजन का विचार स्वीकृत योजना के अनुसार पुस्तक का आकार बढ़ते देखकर रोकना पड़ा। यदि पुस्तक ग्रहीताओं को रुची तो भविष्य में उसका संयोजन कर दिया जायगा। सहृदयों के सुझाव प्रार्थित हैं।

हिंदी-साहित्य का आदिकवि

हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखक आदियुग में विद्यापति को अपना कवि कहकर उन्हें फुटकल खाते में रखकर संतुष्ट हो जाते हैं। बंगाली भाइयों ने उन्हें अपनाने के लिए जो प्रयास किया उससे विद्यापति का तो कोई महत्त्व नहीं, हाँ विद्यापति के महत्त्व से वे अपने को महत्त्वशाली करना चाहते हैं, यह स्पष्ट है। मैथिल भाइयों के तो वे हैं ही। पर सोचने की बात है कि विद्यापति क्या मैथिल मात्र हैं, क्या वे मैथिल-कोकिल मात्र हैं। अथवा क्या वे वंगभाषा या वंगभाषा-साहित्य की परंपरा के कवि हैं? इसपर हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने विचार किया है। अपने-अपने ढंग के तर्क सभी ने दिये हैं। पर ध्यान देने से, थोड़ा गहरे उतरकर विचार करने से, पता चलेगा कि विद्यापति को जो सार्वभौम रूप प्राप्त है उसका विचार अभी जमकर नहीं हुआ है। अधिकतर हिंदी-साहित्य की पदावली में विद्यापति द्वारा गृहीत पदावली के साम्य की ही चर्चा की गयी है। हिंदी-भाषा और हिंदी-साहित्य जिस भारतीय परंपरा का ग्रहण करके चला है उसका गंभीरतापूर्वक विचार करने का आवश्यकता है। वस्तुतः जो कठिनाई उत्पन्न कर दी गई है संप्रति उसका प्रधान कारण भाषा-विज्ञान का विलायती विचार है। भारत या हिंदी के भाषा-विज्ञान के पंडितों ने यदि ग्रियर्सन साहब के दिखाए मार्ग का अनुगमन मात्र न किया हो, तो भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि हिंदी-भाषा की व्याप्ति जो ग्रियर्सन साहब ने स्वीकार की उससे आगे ये विद्वान् नहीं बढ़े। अथवा दूसरे ढंग से कहें तो यों कह सकते हैं कि उन्होंने भारतीय वैयाकरणों की बात का पूरा विचार नहीं किया।

विद्यापति के संबंध में स्थूल रूप में तीन दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है—

(१) भाषा की प्रकृति,

(२) साहित्य की परंपरा, और

(३) संस्कृति की एकता।

हिंदी-भाषा की व्याप्ति का विचार करते हुए बिहारी भाषाएं हिंदी से पृथक् कर दी गईं। क्योंकि हिंदी की उपभाषाओं में ब्रजी, अवधी और खड़ी बोली का ग्रहण तो हुआ, पर पारंपरिक दृष्टि से उसका विचार करने से पूर्वी बोलियों को छाँट दिया गया। प्राकृत वैयाकरणों ने पश्चिमी और पूर्वी भेद किए हैं और यह भेद आज भी चलता है। इस भेद के कारण हिंदी भाषा की पुरानी व्याप्ति में अंतर नहीं पड़ता। हिंदी मध्यदेशीय भाषा है और पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी उसके दो स्वरूप-भेद हैं। जैसे पश्चिमी हिंदी (प्राकृत वैयाकरणों की शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी) अपने निकट की उत्तर-पश्चिम-दक्षिण की भाषाओं को समेटती, उनसे प्रभावित होती, उन्हें प्रभावित करती चली, उसी प्रकार पूर्वी हिंदी (प्राकृत वैयाकरणों की 'अर्धमागधी' की उत्तराधिकारिणी) भी अपने उत्तर-पूर्व-दक्षिण की भाषाओं या बोलियों को मिलाती-जुलाती, उनसे मिलती-जुलती चली। पूर्वी हिंदी या प्राकृत वैयाकरणों की 'अर्ध-मागधी' है क्या ? उसका नाम ही उसकी प्रकृति पुकारकर बता रहा है। 'अर्ध-मागधी' वह भाषा थी जिसमें 'आधी मागधी' थी; पर आधी कौन-सी भाषा थी ? शौरसेनी ही न ? फिर भी उसका नाम अर्धशौरसेनी क्यों नहीं रखा गया ? इसीलिए कि उसकी प्रवृत्ति मागधी की ओर अपेक्षाकृत अधिक थी।

बोलियों का जो लेखा-जोखा ग्रियर्सन साहब ने दिया है उसमें उन्होंने पूर्वी हिंदी को केंद्र में माना है। आगे चलकर श्री सुनीतिकुमारजी चाटुर्ज्या ने पश्चिमी हिंदी को केंद्र में स्वीकार किया। ग्रियर्सन साहब ने भी आगे चलकर अपना निश्चय बदला और पूर्वी हिंदी के स्थान पर केंद्र में 'हिंदी' को स्वीकार किया तथा 'पूर्वी हिंदी' को बहिर्वर्ती भाषाओं से अधिक संबद्ध बतलाया। 'पूर्वी हिंदी' के निकट 'बहिर्वर्ती भाषा'

विहारी पड़ती है और उसके अंतर्गत मैथिली और भोजपुरिया हैं जिनमें वहुत अंतर है। मैथिली से भोजपुरिया बहुत भिन्न है। चाटुर्ज्या महोदय इसी से भोजपुरिया को पृथक् रखने के पक्ष में हैं। अर्धमागधी से संबद्ध पूर्वी हिंदी अर्थात् अवधी का भाषा की दृष्टि से मैथिली से अधिक लगाव रहा, भोजपुरिया से नहीं। अवधी के भी दो रूप पश्चिमी और पूर्वी हैं। पश्चिमी अवधी शौरसेनी की उत्तराधिकारिणी व्रजभाषा के निकट अधिक हुई और पूर्व अवधी मैथिली के। इसलिए पूर्वी अवधी और मैथिली में प्राचीन युग में जो साहित्य निर्मित हुआ उसमें देशगत भाषा-भेद के अतिरिक्त और कोई साहित्यिक या सांस्कृतिक भेद नहीं रहा। जनता की जो विचारधारा पूर्वी अवधी में थी वही मैथिली में। जो मैथिली में थी वह बँगला में नहीं।

एक बात पर विचारकों ने बिलकुल ध्यान नहीं दिया है। प्राकृत-वैयाकरणों ने 'शौरसेनी' की प्रकृति का विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रकृतिः संस्कृतम्' और मागधी की प्रकृति का विचार करते हुए लिखा है कि 'प्रकृतिः शौरसेनी'। प्रायः 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का अर्थ यह लगाया गया कि शौरसेनी संस्कृत से निकली है। संस्कृत प्रकृति है और शौरसेनी विकृति। पर वैयाकरणों का यह कथन वास्तविकता से मेल नहीं खाता। अतः यदि उन बुध वैयाकरणों की बात में सचमुच तत्त्व माना जाय तो इसका तात्पर्य यही मानना समीचीन होगा कि 'प्रकृतिः संस्कृतम्' से वे यह लक्षित करते हैं कि शौरसेनी का झुकाव संस्कृत की ओर है। शौरसेनी अपने शब्दों की नई योजना संस्कृत ढंग पर करती है अर्थात् शौरसेनी संस्कृतस्थ है। पर मागधी संस्कृतस्थ न होकर शौरसेनी की प्रकृति की है अर्थात् वह प्राकृतस्थ है। इस प्रकार मागधी में एक ओर तो शौरसेनी की सी संस्कृत-प्रवृत्ति आई और दूसरी ओर प्राकृत-प्रवृत्ति। मागधी से प्रसूत बिहारी और बंगला ने इन दोनों प्रवृत्तियों को अलग-अलग ग्रहण किया। बिहारी अर्थात् मैथिली तो प्राकृतस्थ रही, पर बँगला संस्कृतस्थ हो गई। बँगला की यह प्रवृत्ति बहुत पहले ही राजशेखर ने लक्षित कर

ली थी और कहा था कि 'गौडाद्या: संस्कृतस्था:' । बंगला की यह प्रवृत्ति आज भी ज्यों की त्यों है। बंगला अपनी इस प्रवृत्ति में शौरसेनी अर्थात् व्रजबुली से मिलती है, पर न वह इस दृष्टि से मैथिली से मिलती है, न अवधी (पूर्वी) से। किंतु मैथिली और अवधी की ये प्रवृत्तियाँ एक-सी हैं। ठेठ की जैसी प्रवृत्ति अवधी में है वैसी ही मैथिली में।

प्राय: लोग कहा करते हैं कि जायसी आदि सूफी कवियों ने अवधी का ठेठ रूप ग्रहण किया है। मानों अवधी के दो रूप हैं—एक ठेठ और दूसरा अठेठ या परिष्कृत। ऐसा भ्रम वस्तुत: तुलसीदासजी के कारण हुआ है। तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में अवधी का ठेठ रूप, जो उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुकूल था, हटाकर उसे व्रजभाषा के संस्कृतस्थ रूप के निकट ले जाने का प्रयास किया। इससे यह भ्रांति होने लगी कि तुलसीदासजी ने अवधी का साहित्यिक रूप ग्रहण किया और जायसी आदि सूफी कवियों ने उसका ठेठ रूप। वस्तुत: तुलसीदासजी ने अवधी भाषा में बहुत बड़ा परिष्कार किया। उनके वे छोटे-छोटे ग्रंथ ही, जो पूर्वी अवधी में निर्मित हैं, भाषा के प्रकृत रूप का पता देते हैं। 'मानस' की भाषा तो उन्होंने गढ़ी है। अवधी में ग्रंथ-निर्माण बहुत दिनों से होता रहा है। जैनों के बहुत-से ग्रंथ अवधी या अर्धमागधी अपभ्रंश में हैं। उनकी भाषा से मिला देखिए। पता चल जायगा कि इस भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति ठेठ की ही रही है। जायसी आदि का अज्ञान भाषा का ठेठ रूप ग्रहण करने का कारण नहीं है। उस भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति ही ऐसी है। अवधी की इस प्रकृति और प्रवृत्ति को हिंदी में सबसे पहले तुलसीदासजी ने 'मानस' में परिवर्तित करने का प्रयास किया। यही क्यों, उन्होंने विनयपत्रिका में, रामगीतावली में, कवितावली में, जो व्रजभाषा में लिखी गई हैं, अवधी के प्रयोग मिला दिए हैं। भाषा व्रजी ही रही, उसका व्याकरण-संमत रूप व्रजी का रहा, पर प्रयोग अवधी के भी मिल गए। तुलसीदासजी के इस मिश्रण का हिंदी-साहित्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। आगे के कवियों ने अर्थात्

शृंगारकाल या रीतिकाल के कवियों ने मिली-जुली भाषा का व्यवहार किया। व्रजी और अवधी के जो पृथक् प्रयोग थे वे मिलकर एक हो गए। केवल व्रजी की कर्मणि-कर्तरि-प्रवृत्ति बनी रही, अवधी की भाँति केवल कर्तरि नहीं हुई तथा व्रजी के कृदंतों के ओकारांत रूप भी जहाँ-तहाँ आते रहे। अन्यथा सारा ढाँचा ऐसा हो गया कि व्रजभाषा का निरूपण करने जब भिखारीदासजी बैठे तो उन्हें कहना पड़ा कि

तुलसी गंग दुवौ भए सुकबिन के सरदार।

इनकी काव्य में मिली भाषा बिबिध प्रकार॥

जो लोग 'व्रजभाषा' का व्याकरण बनाने बैठे उन्होंने तुलसी के प्रभाव से रंजित भाषा को ही उदाहरण के लिए ग्रहण किया। फलतः उनका व्याकरण केवल पछाहीं व्रजभाषा का व्याकरण न होकर इसी मिश्रित भाषा का व्याकरण बना। इस मेल के कारण मानस में, जो अवधी में है, कर्मणि के प्रयोग व्रज के-से प्रायः हुए और कुछ लोगों को यह कहने के लिए बाध्य करते रहे कि 'मानस' की अवधी को व्रजभाषा से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं। किसी-किसी ने तो यहाँ तक कह दिया कि अवधी का पृथक् अस्तित्व ही नहीं। तुलसी की इस मिश्रित भाषा से व्रजभाषा के प्रसिद्ध मर्मज्ञ 'रत्नाकर' जी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके, जिनके ग्रंथों में अनेक पूर्वी प्रयोग आ ही गए। यह सब इसलिए कहना पड़ा कि कोई 'बंदौं गुरु-पद-पदुम-परागा, सुरुचि-सुबास सरस अनुरागा' आदि को पेश करके कहीं यह न कह बैठे कि अवधी की प्रवृत्ति भी संस्कृतस्थ थी। वस्तुतः वह प्रवृत्ति की गई, थी नहीं।

इस प्राकृतस्थ प्रवृत्ति को विद्यापति भी भली-भाँति जानते थे। उन्होंने 'कीर्तिलता' में जो यह लिखा है कि

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।

तें तैसन जंपओं अवहट्ठा॥

वह इसी लिए कि 'अवहट्ठा' अर्थात् अपभ्रंश वस्तुतः 'नागर' था,

संस्कृतस्थ था, उसे उन्होंने 'देसिल बअना' के समान करने का प्रयास किया अर्थात् उन्होंने उसमें प्राकृतस्थ प्रवृत्ति का मेल किया। 'तैसन' का अर्थ 'वही' नहीं है; 'वैसा' है। तुलसीदास ने पूरबी भाषा में पछाहीं का मेल किया और विद्यापति ने पछाहीं रूप में पूरबी का मेल किया था। इस मेल के कारण चाहे आप यह कह लें कि यह पूरबी अपभ्रंश है, या यह मान लें कि अपभ्रंश के उत्तरकालिक रूप का नाम 'अवहट्ट' है, जैसा विद्यापति की भाषा में मिलता है। पर बात इतनी ही है कि विद्यापति ने उसमें मेल किया। यह तो स्पष्ट ही है कि विद्यापति ने जिस भाषा में 'कीर्तिलता' की रचना की है उसका प्रयोग उस समय बोलचाल में मिथिला में क्या, कहीं नहीं था। बोलचाल की भाषा में तो उन्होंने गीत लिखे हैं, पद बनाए हैं।

इस प्रकार भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति के कारण विद्यापति की पदावली की भाषा अवधी के निकट पड़ती है। यदि हिंदीवाले विद्यापति को अपना कवि मानते हैं तो भाषाविज्ञान उन्हें हिंदी के इतिहास से निकाल नहीं सकता। यदि केवल भाषा की इस प्रवृत्ति के कारण ही नैकट्य होता तो भी कहा जाता कि इतने मात्र से विद्यापति को हिंदी के भीतर रखने में बाधा है। पर साहित्य की परंपरा के साथ जब विद्यापति को देखते हैं तो वे हिंदी की ही परंपरा में दिखाई देते हैं। इसके लिए हिंदी-साहित्य के आदिकाल की रचनाओं की छानबीन में प्रवृत्त होने की आवश्यकता है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल में संख्या-बाहुल्य वीर-गाथाओं का मिलता है, इससे उसका नाम 'वीरगाथाकाल' रखना पड़ा है। पर इन वीरगाथाओं की छानबीन कीजिए तो ऐतिहासिकों के अनुसार यह मानने को विवश होना पड़ता है कि न तो १३७५ (आदिकाल की उत्तर-सीमा) के पूर्व की रचना अपने वर्तमान रूप में पृथ्वीराजरासो ही प्रमाणित होता है, न बीसलदेवरासो ही। खुमानरासो का नाम ही नाम है। 'पृथ्वीराजरासो' में ही लिखा है कि उसका संग्रह 'कक्का कवि' ने किया। 'प्रबंधचिंतामणि' से इतना ही प्रमाणित होता है कि पृथ्वीराज

की प्रशस्ति में रचनाएँ होती थीं। इसे कौन अस्वीकार करता है कि पृथ्वीराज पर रचनाएँ होती थीं, पर 'पृथ्वीराजरासो' अपने वर्तमान रूप में तत्सामयिक रचना नहीं। जो उसे तत्सामयिक मानते भी हैं वे भी उसे अपभ्रंश का रूप देने में जो उलटी गंगा बहा रहे हैं, उनका वह प्रयास ही कह रहा है कि उन्हें भी इस रूप में वह मान्य नहीं। जो रूप वे अपने प्रयास से उसे देंगे, वह पृथ्वीराज के समय की पुरानी हिंदी या अपभ्रंश का रूप तो होने से रहा। इतिहास में ऐसे प्रयत्नों का महत्त्व होगा भी, इसे इतिहास के पण्डित ही बताएँगे। पर गढ़ी भाषा अपभ्रंश का वह प्राचीन रूप नहीं पा रही है इसे भाषा-विज्ञान के पंडित आज भी कह रहे हैं। अस्तु।

यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि पृथ्वीराजरासो या बीसलदेवरासो उतनी ही प्राचीन रचनाएँ हैं जितनी उन्हें प्रामाणिक कहनेवाले मनवाना चाहते हैं तो भी यही कहा जा सकता है कि आदिकाल की वह एक ही शाखा थी। पर आगे का हिंदी-साहित्य जिस सरणि को लेकर चला और जिसमें उसका प्रभूत वाङ्मय निर्मित हुआ, वह विद्यापति की ही सरणि थी। विद्यापति ने जिन गीतों का निर्माण किया, उन गीतों की परंपरा उसी रूप में भक्तिरंजित होकर कृष्णभक्त कवियों में दिखाई देती है। भक्तिकाल में कृष्णभक्त कवियों के गीतों का जो वाङ्मय पुंजीभूत हुआ वही उस युग में परिमाण में अधिक है। न साखी-सब्दी-रमैनी कहनेवालों का वाङ्मय परिमाण में उतना है और न 'किहनी उपखान' कहनेवालों, प्रेम की पीर दिखानेवालों का ही साहित्य उतना प्रचुर है। रामभक्ति का वाङ्मय भी उसके आकार की समता नहीं कर सकता। यदि बाहुल्य की दृष्टि से भक्तिकाल का नाम रखा जाय तो उसे 'कृष्णकाल' ही कहना पड़ेगा।

विद्यापति के गीतों की परंपरा के लिए 'गीतगोविंद' का नाम लिया जाता है। पर इसका भी कुछ विचार करने की आवश्यकता है। यह तो स्पष्ट है कि लौकिक संस्कृत में गीत लिखनेवाले सबसे प्रथम जयदेव ही

दिखाई देते हैं। पर क्या विद्यापति ने जयदेव के अनुगमन पर 'गीत' लिखे हैं ? न, ऐसी बात नहीं है। जयदेव भी मिथिला की ही विभूति थे। मिथिला में जनता में गीतों का माधुर्य ऐसा आकर्षक था कि जयदेव को उन गीतों ने खींच ही लिया और उन्होंने संस्कृत में गीतों का प्रयोग किया, फिर उनका अनुगमन संस्कृत के कुछ और कवियों ने किया। विद्यापति तो जनसाधारण के प्राकृत-प्रवाह में ही अपने गीतों को मिलाए चल रहे थे। अर्थात् जयदेव में गीत की प्रवृत्ति आरोपित है। विद्यापति में वह प्राकृत या सहज है। जयदेव की परंपरा संस्कृत में अवश्य मानी जा सकती है, पर देशी भाषा में जयदेव की परंपरा का स्वीकार पीठ की ओर चलना है। इसके मान लेने का कारण यही था कि जयदेव ने 'गोविंद' के गीत गाए और विद्यापति ने भी 'राधा-माधव' के गीत गुनगुनाए। विचार करनेवालों ने 'गोविंद' की परंपरा के बदले 'गीत' की परंपरा कह दी। गीत जनता के थे। गीत-गीति देशी भाषा की संतान थी, उसी की परंपरा थी। संस्कृत में दोहा, सवैया, घनाक्षरी भी लिखे गए हैं, अब यदि आगे चलकर यह कहा जाय कि हिंदी के शृंगारकाल के कवियों ने संस्कृत से यह परंपरा ली, तो जैसे यह बात उलटी होगी वैसे ही जयदेव की गीत-परंपरा में विद्यापति को मानना भी। वस्तुतः धोखा दिया नटनागर श्रीकृष्ण ने, 'कुंजकुटीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली' ने। यहाँ वनमाली गोबिंद वर्ण्य या अलंकार्य की परंपरा के चक्कर में पड़ने की और दूसरों को वासुदेव, कृष्ण आदि नामों की ऐतिहासिक छानबीन के घनचक्करी उलझाव में फँसाने की, अँगरेजों की बताई और अँगरेजी में लिखी बातों को हिंदी में उतार कर पांडित्य-प्रदर्शन के चाकचिक्य में लोगों को डालने की न अपेक्षा है और न अवकाश ही। अकांडप्रथन से दोष भी होगा। जयदेव विद्यापति से पूर्व थे, अतः यदि प्रस्तुत प्रसंग में गोविंद-गाथा की परंपरा जयदेव से ही मान ली जाय तो उसमें उतनी बाधा नहीं। कहना इतना ही है कि विद्यापति ने हिंदी में, जनभाषा में, शृंगार-रस के क्षेत्र के लिए मर्यादा बाँधकर चाहे कृष्ण-

भक्त कवियों का उतना उपकार न किया हो, पर शृंगारकाल के कवियों के लिए वे बड़ा उपस्कार कर गए। विद्यापति का काव्य भक्तिकाव्य है या नहीं इसपर बहुत वाद-विवाद हुआ है। इस संबंध में इतना ही कहना है कि विद्यापति का कृष्ण-काव्य सूरदास का या अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का कृष्ण-काव्य नहीं है। यह यदि भक्तिकाव्य माना भी जा सकता है तो वैसा ही जैसा बिहारी का, देव का, पद्माकर का था। विद्यापति से सूरदास आदि ने कृष्णभक्ति नहीं पाई, पर गीत की शैली अवश्य पाई। विद्यापति के दृष्टिकूटों का अनुगमन सूरदास ने बहुत किया है। शृंगारकाल के कवियों ने विद्यापति से चाहे गीत की शैली न पाई हो, पर शृंगार के आलंबन राधा-कृष्ण अवश्य पाए। अर्थात् एक ने अलंकार पाया, शैली पाई, वर्णन-विधि ली; दूसरे ने अलंकार्य पाया, गाथा पाई, वर्ण्य लिया। इस प्रकार विद्यापति ने आगे आनेवाले हिंदी-साहित्य को यहाँ से वहाँ तक प्रभावित कर दिया। पर यह कवि हिंदी-साहित्य में गृहीत होकर भी आदिकाल के फुटकल खाते में ही फेंका रहा, क्या यह ठीक है ?

जो भी हो, यह तो स्पष्ट है कि हिंदी-साहित्य यदि अपनी परंपरा ढूँढ़ने निकलेगा तो उसे विद्यापति अपने प्रथम कवि दिखाई देंगे। विद्यापति की परपंरा बँगला में है ? इसका ठीक उत्तर साहित्य नहीं, संस्कृति देती है। बंगाल की संस्कृति शाक्त संस्कृति है। उससे मिथिला भी प्रभावित है। वैष्णव भक्ति का प्रसार भी उस शाक्त संस्कृति को बदल न सका। भला संस्कृति भी शीघ्र बदलती या 'नव' होती है। भावुक बंगाल की संस्कृति कैसे बदलती। जगज्जननी का उपासक बंगाल उस आदि-संस्कृति का त्याग कैसे कर सकता था ? उसने अपनी शक्ति-संस्कृति से राधा को अवश्य अत्यंत व्यापक बना दिया। हिंदी-साहित्य का निर्माण जिस हिंदी-प्रदेश में हुआ उसकी संस्कृति राम-कृष्ण-भक्ति की संस्कृति है। हिंदी-साहित्य में सबका ग्रहण-संग्रह होने पर भी प्रभूत वाङ्मय इन्हीं को लेकर है। यों तो रामायण-महाभारत-भागवत की प्रभाव-सीमा व्यापक

हैं, राम-कृष्ण को ससीम रूप धारण करने पर भी देश-सीमा में बाँधा नहीं जा सकता, पर यह तो मानना ही पड़ता है कि दोनों अवतारों की जन्मभूमि और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेशों में उनका प्रभाव नैकट्य के कारण अधिक पड़ा। यहाँ की संस्कृति प्रधान रूप से राम-कृष्ण-स्नेह-संवलित ही संस्कृति है। क्यों मैथिल जयदेव गीतगोविंद गाने लगे, क्यों विद्यापति 'राधा-माधव, माधव-राधा' के पदों में लीन हुए शाक्त-शैव होकर भी ? यह चाहे उनकी उदार-भक्ति-भावना' मानी जाय या उनका साहित्य-परंपरा-पालन कहा जाय, या उनमें जन-जीवन की प्रेरणा सकारी जाय पर यह तो कहना ही पड़ता है कि चाहे यह जो हो, परंतु इससे विद्यापति की रचना का जितना अधिक सांस्कृतिक संबंध हिंदी-साहित्य से स्थापित होता है उतना वंगीय साहित्य से नहीं। फिर भी यदि कोई बँगला का कृष्ण काव्य सामने करे तो कहा जा सकता है कि कृष्ण-संस्कृति बंगाल में आरोपित है, योजित है। हिंदी-साहित्य के प्रकृत क्षेत्र मध्यदेश में—प्राचीन परिभाषा के अनुसार इंद्रप्रस्थ से अंग तक के प्रदेश में—वह प्रकृत है, सहज है; 'सहज' न कहें तो 'चिरजात' ही कह लें। फिर यदि राधा-माधव-विलास के गीत गानेवाले विद्यापति को हिंदी-साहित्य अपना कहता है तो इसमें उसका अपराध ही क्या है ? यह भ्रम न होना चाहिए कि हिंदी-साहित्य अपनी साम्राज्य-लिप्सा में ऐसा करता है। उसे तो 'सहज' ही ऐसा जान पड़ता है। उसकी भाषा की प्रवृत्ति, उसकी साहित्य की परंपरा और उसकी संस्कृति की प्रेरणा उसे बाध्य करती हैं कि वह ऐसा कहे। हिंदी-साहित्य की जब भी ऐतिहासिक प्रमाणों से छानबीन की जायगी तो यह निष्कर्ष आज नहीं तो कल हिंदी-साहित्य के इतिहासज्ञों को निकालना ही पड़ेगा कि हिंदी-साहित्य की परंपरा की दृष्टि से विद्यापति उसके आदिकवि हैं।

वाणी वितान भवन
ब्रह्मनाल, काशी
रंगभरी एकादशी, २००७

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

द्वितोय संस्करण

जब 'विद्यापति' का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ था, हिंदी में विद्यापति पर इने-गिने ग्रन्थ थे। मेरी जानकारी में तो केवल श्री बेनीपुरी जी की 'विद्यापति की पदावली' ही भर थी। ऐसी स्थिति में 'विद्यापति' का विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान पा जाना दुष्कर न था। पर इधर विद्यापति पर शोध-कार्य तो हुए ही, साथ ही उनके आधार पर कई ग्रंथ भी निकले। उनमें से कुछ महाविद्यालयों के आचार्यों के लिखे हुए भी हैं। उनके सामने मेरा प्रणयन ठहर सकेगा, यह मानने का साहस, कतिपय कारणों से नहीं होता था। अतः उसके दूसरे संस्करण की बात भी कभी नहीं सोची। पर जब प्रकाशक ने सूचना दी कि 'विद्यापति' वर्तमान सत्र में तीन विश्वविद्यालयों (प्रयाग, पूना और सागर) के एम० ए० की पाठ्य-पुस्तकों में है और उसके दूसरे संस्करण के निकालने की आवश्यकता आ पड़ी है तब 'विद्यापति' का महत्त्व "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" के अंतर्गत कैसे माना जा सकता था ? अस्तु।

अपने जीवन की आशा-निराशा, सफलता-विफलता इत्यादि का लेखा-जोखा ताक पर रखना पड़ा और लेखनी लेनी पड़ी। संसार की वणिक् वृत्ति से दृष्टि हटी और 'विद्यापति' के मूल्यांकन पर डटी। दो महीने के ग्रीष्मावकाश को व्यस्तता में बदलना खलता अवश्य था पर पंडितजी (आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र) का सचेतक कोड़ा—"क्या कर रहे हैं आप !" अधिक लगता था। प्रकाशक का बार-बार का आग्रह भी दीर्घसूत्रता तोड़ता रहा। निदान ३० जून को 'विद्यापति' की पत्रांतरित प्रति मुद्रित होने योग्य करके लौटायी गयी।

प्रस्तुत संस्करण कैसा बन पड़ा है, यह समय और विज्ञ पाठक बतायेंगे। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि इसमें कोई नया अध्याय नहीं

जोड़ा गया है। आकार-वृद्धि पर प्रतिबंध जो है। पर थोड़ा-बहुत संस्कार प्रायः प्रत्येक शीर्षक की सामग्री का किया गया है। 'गीतकाव्य और उसकी परंपरा', 'काव्य का स्वरूप' तथा 'अप्रस्तुत योजना और अलंकार-विधान' का संवर्धन किया गया है। इनमें 'काव्य का स्वरूप' विशेष विस्तार पा गया है। ऐसा इसलिए करना पड़ा जिससे 'विद्यापति' के काव्य-सौष्ठव के परिज्ञान के साथ-साथ उनकी काव्य-वस्तु का परिचय भी प्राप्त किया जा सके। पुराने संस्करण में काव्य-वस्तु का परिचय कराने का प्रयत्न न था। पाश्चात्य काव्य-सिद्धांत और प्रशंसात्मक व्याख्या के कारण 'विद्यापति' के सम्बन्ध में कुछ प्रमाद फैलता-सा प्रतीत हुआ। इसके निराकरण का प्रयत्न आवश्यक था। इसलिए भी संवर्धन अनिवार्य हो गया। 'पदावली' में शृंगार के अधिष्ठातृ देव की स्तुति का अभाव खटकनेवाली बात थी। इसलिए उसमें राधा-कृष्ण की स्तुति विषयक दो पद और बढ़ा दिये गये हैं।

आशा है, प्रस्तुत संस्करण 'विद्यापति' को समझने में विशेष सहायक होगा। विज्ञों का सुझाव प्रार्थित है।

श्रीकृष्णाष्टमी
विक्रम सं० २०१७
ब्योहारी (मध्यप्रदेश)

सूर्यबली सिंह

क्रम

जीवन-वृत्त

हिंदी के आदिकवि विद्यापति ठाकुर का जन्म मिथिला प्रांत में बिसपी नामक ग्राम में हुआ जिसे गढ़ बिसपी भी कहते थे। यह स्थान दरभंगा जिले के अन्तर्गत जरैल परगना में है और एन० ई० आर० के कमतौल स्टेशन के बहुत समीप है। कहते हैं कि बाद को मिथिला के महाराज शिवसिंह ने इसी ग्राम को विद्यापति को अपने राज्याभिषेक के अवसर पर उपहार-स्वरूप दे दिया था जिसपर उनके वंशजों का बहुत दिनों तक अधिकार रहा आया। १२५७ (फसली वर्ष) में वह अँगरेजी सरकार द्वारा छीन लिया गया। तब विद्यापति के वंशज मधुबनी के समीपस्थ सौराठ नामक ग्राम में आकर बस गये।

विद्यापति ठाकुर का जन्म मिथिला के प्रसिद्ध पंडित घराने में हुआ। इस वंश के प्रायः सभी लोग विद्वान् होते रहे और उन सबको राज-सम्मान प्राप्त रहा आया। बहुतेरे तो मिथिला के राजाओं के प्रतिष्ठित मंत्री तक हुए हैं। इनके बीज-पुरुष विष्णु ठाकुर कहे जाते हैं। विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर और माता का नाम गंगादेवी था। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है*—

---

* विशेष विवरण के लिए कृ० दे० श्री डाक्टर उमेश मिश्र कृत 'विद्यापति ठाकुर' में वंश परिचय।

विद्यापति ठाकुर के जन्मकाल के संबंध में विद्वानों का मतभेद है। यों तो उसके लिए कोई सटीक प्रमाण नहीं है किंतु कतिपय घटनाओं के आधार पर अनुमान किया जाता है कि उनका जन्म २४१ लक्ष्मणाब्द

१. लक्ष्मण-संवत् के संबंध में भी विद्वानों का मतभेद है। कोई इसका प्रारंभ सं० ११६३ से और कोई ११७६ से मानते हैं। इन्हीं दोनों के बीच लक्ष्मणाब्द का आरंभ बताया जाता है।

(विक्रमीय संवत् १८०७) में हुआ था। इसका आधार विद्यापति का निम्नलिखित पद है—

अनल रंध्र कर लक्खन नरवइ सक समुद्द कर अगिनि ससो
चत कारि छठि जेठा मिलिओ बार बिहप्पय जाहु लसी
देवसिंह जू पुहुमी छड्डिअ अद्धासन सुरराय सरू

इससे पता चलता है कि लक्ष्मणाब्द २९३, शाके १३२४, विक्रमीय सं० १४५९ में देवसिंह की मृत्यु हुई। देवसिंह की मृत्यु के अनंतर शिवसिंह गद्दी पर बैठे और उन्होंने बिसपी ग्राम विद्यापति को उपहार में दिया। मिथिला में यह जनश्रुति है कि शिवसिंहजी ५० वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे थे और विद्यापति महाराज से अवस्था में २ वर्ष बड़े थे। इस प्रकार लक्ष्मणाब्द २९३ में विद्यापति की अवस्था ५२ वर्ष की ठहरती है। इस दृष्टि से इनका जन्म लक्ष्मणाब्द संवत् २४१, विक्रमीय संवत् १४०७ में हुआ होगा। जिस प्रकार जन्म-काल उसी प्रकार मृत्यु-काल भी अनुमित है। लक्ष्मणाब्द २९६ में शिवसिंह के युद्धस्थल में पंचत्व को प्राप्त होने तथा ३०९ में 'भागवत' की प्रतिलिपि करने का उल्लेख मिलता है। अतः ३०९ तक अर्थात् ६९ वर्ष की अवस्था तक इनका जीवित रहना प्रमाणित होता है। इनकी मृत्यु कब हुई इसके अनुमान के लिए इस पद पर विचार करना चाहिए—

सपन देखल हम सिवसिंघ भूप
बतिस बरिस पर सामर रूप

उद्धृत पद से स्पष्ट है कि शिवसिंह की मृत्यु के ३२ वर्ष बाद ३२८ लक्ष्मणाब्द में विद्यापति को शिवसिंह स्वप्न में दिखलाई पड़े थे। इस समय इनकी अवस्था ८७-८८ वर्ष की थी। संभव है इसके दो-एक वर्ष बाद इनका देहांत हुआ हो। अधिकांश विद्वानों का भी यही मत है कि विद्यापति की मृत्यु ९० वर्ष की अवस्था में संवत् १४९७ विक्रम में हुई होगी। इनकी मृत्यु-तिथि के संबंध में निम्नलिखित पद प्रसिद्ध है—

विद्यापति क आयु अवसान
कातिक धवल त्रयोदसि जान

कहा जाता है कि विद्यापति अपने अंतिम दिनों में संसार से विरक्त हो गये और शेष समय में उन्होंने केवल शिव की नचारी और कृष्ण-कीर्तन के ही पद बनाये। शिव की भक्ति क्रमशः बढ़ती ही गयी। इसी सिलसिले में एक विशेष घटना घटी। कहा जाता है उगना या उदना नाम का विद्यापति के एक सेवक था। वे उसे साथ लेकर किसी दूसरे गाँव को जा रहे थे। मार्ग में उन्हें प्यास लगी। उससे व्याकुल होकर उन्होंने उगना को जल लाने को कहा। चारों ओर घोर जंगल था। जल का कहीं पता न था। पर उगना गया और थोड़े ही समय में स्वच्छ जल लाकर विद्यापति को दिया। उन्हें वह जल बहुत स्वादिष्ट लगा और गंगाजल-सा प्रतीत हुआ, जिसका वहाँ मिलना असंभव था। विद्यापति उससे जल का वृत्तांत पूछने लगे। पर बार-बार प्रश्न करने पर उसने बतलाया कि मैं भृत्य के रूप में स्वयं शिव हूँ और तुम्हारी भक्ति के वशीभूत होकर तुम्हारे साथ रहता हूँ। तुम्हें अत्यंत तृषित देखकर अपनी जटा से गंगाजल निकालकर तुम्हें दे दिया है। मैं तुम्हारे पास तभी तक रहूँगा जब तक इस समाचार को छिपा रखोगे। इस घटना के बाद से विद्यापति उगना से कोई ऐसा काम न लेते जिससे उसे कष्ट हो। कुछ दिन के उपरांत विद्यापति की स्त्री उगना के किसी काम को विलंब से करने पर बिगड़ कर मारने को प्रस्तुत हुई। विद्यापति यह देख कर व्याकुलतापूर्वक चिल्ला उठे—"हाँ-हाँ, यह क्या कर रही हो? साक्षात् शिव पर प्रहार?" फल यह हुआ कि उगना तत्काल अंतर्धान हो गया और विद्यापति उसके विरह में पागल हो गये। इसमें सचाई चाहे जो हो पर यह तो निश्चित रूप में प्रमाणित हो जाता है कि ये बहुत बड़े शैव थे।

इनकी भक्ति के संबंध में एक और किंवदंती है। कहा जाता है कि अपना मरण-काल निकट जान विद्यापति शास्त्र तथा मिथिला देश

के आचारानुसार मन में 'मरणं जाह्नवीतीरे' निश्चित कर गंगा-दर्शन के लिए पालकी में बैठकर चल पड़े। मिथिला के लोग गंगास्नान या गंगालाभ के लिए समीप होने के कारण, वर्तमान सिमिरिया घाट आते हैं। विद्यापति भी वहीं जा रहे थे। जब बरौनी के पास पहुँचे, जहाँ से गंगाजी लगभग दो कोस के थीं, तब अपनी पालकी रखवा दी और कहने लगे कि गंगाजी की खोज में मैं इतनी दूर आया तो क्या गंगाजी मुझे लेने के लिए इतनी दूर भी नहीं आ सकतीं? कहा जाता है कि उसी रात में गंगाजी में बाढ़ आयी और जहाँ विद्यापति ठहरे हुए थे वहीं से होकर धारा बहने लगी। दूसरे दिन कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को कवि विद्यापति ने गंगाजी के तटपर अपनी ऐहिक लीला समाप्त की। इस किंवदंती से उनके भक्त होने का तो पता चलता ही है, साथ ही यह भी प्रमाणित होता है कि विद्यापति की मृत्यु गंगातट पर हुई थी और वे मरते समय भक्ति के आवेश में रचना भी कर रहे थे।

विद्वत्ता के विषय में भी एक किंवदंती है। कहा जाता है कि एक बार यवन शिवसिंह को बागी करार देकर दिल्ली ले गये। इससे सभी बहुत दुखी रहने लगे। विद्यापति को यह बात बहुत खटकी। वे छुड़ा लाने का दृढ़ संकल्प करके दिल्ली पहुँचे। वहाँ जाकर सुलतान से कहा कि मैं अनदेखी वस्तु का भी वर्णन कर सकता हूँ। इसपर सुलतान ने इन्हें काठ के एक संदूक में बन्द कर और उसे डोर से बाँधकर कुएँ में लटकवा दिया और आज्ञा दी कि कुएँ के ऊपरी भाग में जो कुछ हो रहा है उसका वर्णन करो। कुएँ के ऊपर एक सुंदरी स्त्री आग फूँकती हुई खड़ी की गई। विद्यापति तत्क्षण संदूक के भीतर से ही निम्नलिखित पद गाने लगे—

सजनि निहुरि फुकु आगि
तोहर कमल भमर मोर देखल
मदन ऊठल जागि

जो तोहें भामिनि भवन जएबह
एबह कोनह बेला
जो ए संकट सों जो बांचत
होयत लोचन मेल।

इसे सुनते ही बादशाह के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह इनके चमत्कार और काव्यमाधुर्य पर मुग्ध हो गया। फलस्वरूप उसने इनके साथ ही साथ इनकी प्रार्थना पर शिवसिंह को भी मुक्त कर दिया। कहना न होगा कि इस किंवदंती से यह सिद्ध होता है कि कवि की निरीक्षण-शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। वे अनदेखी वस्तु का वर्णन कर सकते थे या नहीं, पर उनकी कविता से यह सिद्ध हो जाता है कि उनकी दृष्टि बहुत ही तीव्र थी। उन्होंने भंगिमा का जैसा निरीक्षण और तदनुरूप उसका जैसा वर्णन किया है वह बहुत थोड़े कवियों में दिखाई पड़ता है। इस संबंध में जौनपुर का वह वर्णन भी द्रष्टव्य है जो कीर्तिलता में किया गया है।

विद्यापति के शिक्षा-गुरु का नाम हरि मिश्र था जो मिथिला के बहुत बड़े विद्वानों में से थे। विद्यापति ने लड़कपन में ही इनसे विद्यारंभ किया था। उसी समय इन्हें नैयायिक जयदेव मिश्र का भी सत्संग प्राप्त हुआ। ये विद्यापति के गुरुमात्र थे। विद्यापति की बुद्धि अत्यंत कुशाग्र थी। पर राज-दरबार से शीघ्र संबंध हो जाने के कारण शास्त्रों से इनका उतना ही संबंध रह गया जितने से राज-दरबार में नित्य काम पड़ता था। आपने पहले धर्म तथा नीति-विषयक ग्रंथों की रचना की। इसके पश्चात् साधारण व्यक्तियों की रुचि के अनुसार अपनी मातृभाषा में कविता करने लगे। ऐसा करने में पहले तो इन्हें कुछ ग्लानि-सी हुई, पर इसकी परवा न कर इन्होंने देशी भाषा में रचना की। जिस प्रकार इन्होंने अपभ्रंश (जिसे इन्होंने 'अवहट्ट' कहा है) कविता की उसी प्रकार देशी भाषा में भी—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जंपओ अवहट्ठा।

इनकी 'अवहट्ट' की रचना में संस्कृत का अच्छा समावेश हुआ है। 'अवहट्ट' भाषा में इन्होंने २ काव्य लिखे—'कीर्तिलता' और 'कीर्ति-पताका'। उस समय अवहट्ट की रचना उतनी समादृत न थी जितनी देशी भाषा की रचना। फलस्वरूप इन्होंने मैथिलि में अपनी अधिकतर कविता की है। इसका बड़ा आदर हुआ और समय-समय पर इन्हें मिथिला के राजाओं द्वारा सम्मान और उत्साह भी मिलता रहा। अपनी कविता के विषय में इन्होंने स्वयं लिखा है—

बालचन्द विज्जावइ-भाषा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन-हासा
ओ परमेसर हर-सिर सोहइ
ई निच्चय नायर मन मोहइ

कवि का उक्त कथन अक्षरशः सत्य है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि विद्यापति को अपनी कविता का गर्व था। एक स्थान पर इन्होंने स्पष्ट कहा है—"ते मोने भलओ निरूढ़ि गए, जइसओ तइसओ कव्व" अर्थात् जैसे-तैसे मेरा काव्य प्रसिद्ध पाये, यही मेरे लिए भला है।

विद्यापति की कविता महाराज शिवसिंह तथा उनकी रानी लखिमा देवी के समय में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई थी। इसी समय वे शिवसिंह को यवनेश्वर से मुक्त कराने दिल्ली गये थे। वहाँ सुलतान को प्रसन्न कर (जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है) इन्होंने 'शतावधान' की उपाधि पायी। शिवसिंह को छुड़ाकर विद्यापति जब लौटे तब महाराज शिवसिंह ने राजसिंहासन पर बैठने के उपलक्ष्य में इन्हें बिसपी नामक ग्राम दिया, साथ ही 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से भी विभूषित किया। शिवसिंह तथा उनकी धर्मपत्नी से इनका स्नेह इतना बढ़ा कि विद्यापतिजी ने उन्हीं को अपना आश्रयदाता माना। महाराज शिवसिंह भी इनकी कविता पर इतने मुग्ध हुए कि राग-रागिनियों से मिलाकर गाने के लिए उन्होंने

सुमति नामक एक कलावंत को नियुक्त किया जो इनके पदों का स्वर बैठाया करता था।

यद्यपि विद्यापति का जीवन राज-दरबार में ही बीता और 'ओइनी' वंश के कई राजा इनके आश्रयदाता हुए तथापि इनका वैसा प्रेम किसी से स्थापित न हो सका जैसा शिवसिंह से था। वे शिवसिंह के राजकवि ही नहीं, मित्र और अंतरंग सखा भी थे। बादशाह के पंजे से शिवसिंह के छुड़ाने का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कहना न होगा कि बादशाह के बंदी को छुड़ाने का प्रयत्न साहस का कार्य है। ऐसा साहस वही कर सकता है जो सुख की अभिवृद्धि करनेवाला और दुःख को बंटानेवाला—सच्चा मित्र हो। धन-यश-लोभी आश्रित कवि इतना त्याग नहीं कर सकता। शिवसिंह के समक्ष कामकला की समस्त भंगिमाओं से भरे हुए रूपाशक्ति और प्रेम के गीत गा-गाकर यह कहने का साहस, कि इनके रहस्य को "राजा शिवसिंह रूपनरायन लखिमादेवी रमाने" ही जान सकते हैं, अंतरंग सखा के अतिरिक्त दूसरा नहीं कर सकता। इस वंश की रक्षा के लिए विद्यापति सतत प्रयत्नशील रहे। जिन-जिन राजाओं के संपर्क में आये सबकी प्रशस्ति में इन्होंने कविता की। अपने परिचित व्यक्तियों के स्मरणस्वरूप भी बहुत-सी कविताएँ रचीं। अतः स्पष्ट है कि इनपर सबका प्रेम था और इन्हें भी सब प्रिय थे।

किन्तु विद्यापति के कतिपय नये अध्येता ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि विद्यापति की आर्थिक स्थिति ठीक न थी। इसलिए विवश होकर उन्हें शासकों के प्रति श्रद्धा प्रकट करनी पड़ती थी। 'लिखनावली' की रचना स्पष्ट ही पेट पालने का बहाना है। इस प्रकार, उनके अनुसार, विद्यापति का सारा जीवन संकटग्रस्त ठहरता है। कहना न होगा कि यह क्लिष्ट कल्पना विद्यापति को एक दर्जन उपाधियों पर पानी तो फेरती ही है, साथ ही राजा शिवसिंह की दानवीरता और कृपा को भी धूल में मिलाती है। शिवसिंह का निधन सन् १४१५ ई० में माना जाता है और 'लिखनावली' का निर्माण सन् १४१८ ई० में। तो क्या विद्यापति की

सारी ख्याति और विभूति इतनी थोथी थी कि वह शिवसिंह की मृत्यु के अनंतर ३–४ वर्ष भी न टिक सकी और उन्हें पेट पालने के लिए इधर-उधर भटकना पड़ा ? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। विद्यापति बनौली पेट पालने नहीं गये थे। बनौली के राजा पुरादित्य राजा शिवसिंह के मित्र थे। विद्यापति राजा शिवसिंह के भेजने से वहाँ गये थे, संकट के समय मित्र की सहायता के लिए। अस्तु, विद्यापति की निर्धनता की कल्पना दूरारूढ़ एवं तथ्यहीन ठहरती है। इसके मूल में संभवतः फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र का आग्रह है, जिसके अनुसार कवियों में कुण्ठाओं का होना अनिवार्य समझा जाता है। हो सकता है कि मार्क्स की 'ऐतिहासिक अर्थमूलक व्याख्या' ने भी जोर मारा हो, जिसके अनुसार राजनीति, धर्मनीति, इतिहास सभी कुछ अर्थ के आश्रित माना जाता है। कुछ भी हो, विद्यापति की सर्वप्रियता असंदिग्ध है। वास्तविकता यह है कि इनपर सबका प्रेम था और उन्हें भी सब प्रिय थे।

इनकी कवित्व-शक्ति से मुग्ध होकर लोगों ने इन्हें अनेक उपाधियाँ दीं। उनमें से ये उपाधियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं— १. दशावधान, २. अभिनव जयदेव, ३. महाराजपंडित, ४. सुकवि-कंठहार, ५. राजपंडित, ६. खेलन कवि, ७. सरस कवि, ८. कवि-रतन, ९. नवकविशेखर, १०. कवि-शेखर, ११. कंठहार, १२. कविरंजन। अनेक पदों में पूर्वोक्त उपनामों के साथ 'विद्यापति' शब्द भी लगा मिलता है। इन सब उपनामों से की गयी कविताएँ शृंगार-रस की ही हैं। इनकी विरक्ति की कविता में उक्त उपाधियों तथा आश्रयदाताओं के नामों से भी विरक्ति पायी जाती है।

विद्यापति का विवाह चंदनदेवी या चंपति देवी से हुआ था। इनके तीन पुत्र और एक कन्या थी। इनके प्रथम दो पुत्रों वाचस्पति और हरिपति ठाकुर के सम्बन्ध में तो कुछ विशेष ज्ञात नहीं, पर तीसरे नरपति ठाकुर अवश्य विद्वान् थे। उनका 'दैवज्ञ बांधव' नामक ज्योतिष का ग्रन्थ प्रसिद्ध है। मैथिली भाषा में उनकी कविताएँ हैं। विद्यापति की पुत्रवधू चंद्रकला ने भी कविताएँ लिखी हैं।

इस प्रकार कवि अपने विद्वान् परिजनों के साथ सुख से काल-यापन करता रहा। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, अंतिम दिनों में कवि संसार से विरक्त होकर केवल शिव की नचारी और कृष्ण के यशकीर्तन में ही समय बिताया करता था। अन्त में मोक्षदाता भगवान् शिव का गुणगान करते हुए कार्त्तिक-शुक्ला त्रयोदशी को विद्यापति ने गंगाजी के तट पर नारायणी क्षेत्र में सुरपुर को प्रस्थान किया।

●

मिथिला के राजा

विद्यापति के जीवन-वृत्त से यह स्पष्ट है कि उनका मिथिला के राज-घराने से बड़ा घना संबंध था और वहाँ से उन्हें बड़ा सम्मान प्राप्त था। इस सम्मान के मूल में विद्यापति की विद्वता और कविता थी। अस्तु, उनके ग्रंथों का परिचय तब तक अस्पष्ट रहेगा जब तक मिथिल के राजाओं का परिचय प्राप्त न हो जाय। अतः विद्यापति की रचनाओं का विवरण देने के पूर्व तत्कालीन राजाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

मिथिला में राजाओं के संबंध में हमारी जानकारी के आधार हैं मैथिलों के बनाये हुए अनेक ग्रन्थ। उनके अनुसार मिथिला के सर्वप्रथम राजा नामदेव ठहरते हैं। सन् १०९७ ई० में इन्होंने सीतामढ़ी रेलवे के कुछ आगे सिमरावगढ़ में अपनी राजधानी स्थापित की। यहाँ इनका तथा इनके वंशजों का २२९ वर्ष राज्य रहा। तत्पश्चात् मिथिला राज्य के अधिकारी मैथिल ब्राह्मण हुए जो ओइनी ग्राम के मूल निवासी थे। यही कारण था कि वे ओइनीवार ब्राह्मण कहलाते थे और कुछ समय में यह वंश ही ओइनी-वंश कहलाने लगा। इस वंशवाले जिस प्रकार युद्धवीर थे उसी प्रकार विद्या-व्यसनी भी थे। सन् १३५१ से '८८ ई० तक मिथिला पर सुलतान फीरोजशाह का आधिपत्य रहा। कालांतर से भोगेश्वर ठाकुर को राज्य मिला। इन्होंने ३३ वर्ष तक गौरवपूर्वक राज्य का सुख-भोग किया। ये सुलतान के बड़े प्रिय थे। इनकी मृत्यु के उपरांत इनके पुत्र गणेश्वर राजा हुए। कुछ हिस्सा भावसिंह को मिला। दोनों अलग-अलग राज्य करने लगे। राजा गणेश्वर नीतिज्ञ, दानी, मानी, तेजस्वी तथा रूपवान् थे। ११ वर्ष राज्य करने के पश्चात् सन् १३७१ ई० में असलान नामक एक तुर्क ने विश्वासघात कर इन्हें मार डाला। इनके तीन पुत्र वीरसिंह, कीर्तिसिंह तथा राजसिंह थे। इन लोगों ने जौनपुर के

अधीश इब्राहीम शाह की कृपा से असलान को युद्ध में पराजित कर पुनः अपना राज्य लौटाकर कीर्तिसिंह को गद्दी पर बैठाया—

बंधबधन उत्साह कर तिरहुति माह सरूप

पातसाह असु तिलक कर किर्तिसिंह भउ भूप

कीर्तिसिंह बड़े प्रतापी राजा हुए। इन्हीं का यश विद्यापति ने अपनी 'कीर्तिलता' में अवहट्ट भाषा में गाया है। इन तीनों भाइयों में से किसी के संतान न होने के कारण इनके पितामह के भतीजे देवसिंह सिंहासनारूढ़ हुए। आप भावसिंह की दूसरी रानी से उत्पन्न हुए थे। राजा भावसिंह बड़े पराक्रमी राजा हुए। विद्यापति ने भी इनके पराक्रम और दानशीलता की प्रशंसा अपनी कविता में की है। भावसिंह के पश्चात् देवसिंह राज्याधिकारी हुए। इन्होंने 'ओइनी' से हटाकर 'देवकुली' को अपनी राजधानी बनाया। बाद में तो ये दूसरे कर्ण ही कहे जाते हैं। इन्होंने सोने का तुलापुरुष बनवाकर ब्राह्मणों को दान किया था। ये स्वयं गुणी थे और गुणियों के लिए इनके हृदय में स्थान था। ये सन् १४०२ ई० में परलोक सिधारे।

महाराज देवसिंह के दो पुत्र शिवसिंह और पद्मसिंह थे। शिवसिंह का जन्म सन् १३६२ में हुआ था। पिता की मृत्यु होने पर २९६ लक्ष्मणाब्द में इन्हें गद्दी मिली। इसी समय इनके राज्य पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। शिवसिंह ने बड़ी वीरता से युद्ध किया और शत्रुओं को भगाकर राज्य में शांति की स्थापना की। इन्होंने 'शिवसिंहपुर' को राजधानी बनाया और अन्य राजाओं को अपने अधीन किया। इनके कई रानियाँ थीं; जिनमें से लखिमादेवी पटरानी थीं। ये बड़ी विदुषी थीं। इनकी कविताएँ मैथिली तथा संस्कृत भाषाओं में मिलती हैं। इनका संस्कृत का चातुर्यपूर्ण एक श्लोक उदाहरण के लिए यहाँ पर उद्धृत किया जाता है। एक बार किसी पंडित के पूछने पर मिथ्या दोषारोपण से दुःखी होकर कहा—

सत्यं ब्रवीमि मकरध्वजबाणमुग्ध
नाहं त्वदर्थमनसा परिचिन्तयामि।
दासोऽधमे विघटितस्तव तुल्यरूपः
सत्यं भवेन्नहि भवेदिति मे वितर्कः॥

शिवसिंह बड़े दानी थे। इनकी दानशीलता की कथाएँ अब तक मिथिला में प्रचलित हैं। इन्होंने तुलादान भी किया था। इन्होंने बहुत से मंदिर, पुष्करिणी (पोखरी), तालाब, सड़कें तथा सरायें बनवायी थीं। आपके विषय में मिथिला में प्रसिद्ध है—

पोखरि रजोखरि और सब पोखरा।
राजा सिवसिंह और सब छोकरा॥

इन्हीं की आज्ञा से विद्यापति ने 'कीर्तिपताका' तथा 'पुरुषपरीक्षा' नामक ग्रंथों की रचना की थी। ये विद्यापति का बहुत आदर करते थे। फलस्वरूप उन्हें 'बिसपी' नामक ग्राम भी दान में दिया था। विद्यापति राजा-रानी दोनों के प्रिय कवि थे और उनकी रक्षा तथा सम्मान के लिए सर्वदा सन्नद्ध रहते थे।

इनके राज्य पर मुसलमानों का पुनः आक्रमण हुआ जिससे शिवसिंह पराजित हुए। विद्यापति उनकी धर्मपत्नी को लेकर उनके मित्र द्रोणावार के राजा पुरादित्य के यहाँ रहने लगे। कुछ लोगों का कथन है कि शिवसिंह युद्ध में मारे गये और कुछ का कहना है कि वे पराजित होने पर नेपाल के जंगलों में छिप गये और फिर न लौटे।

शिवसिंह के मंत्री के पुत्र ने बादशाह को प्रसन्न कर उनके भाई पद्मसिंह को राज्य दिलाया। वे पराक्रमी, दानी तथा यशस्वी थे। उनकी मृत्यु के बाद उनकी धर्मपत्नी विश्वासदेवी बहुत काल तक राज्य करती रहीं। विद्यापति ने इन्हीं के आदेशानुसार 'शैवसर्वस्वसार' तथा 'गंगा-वाक्यावली' की रचना की है। इन ग्रंथों में शिव तथा गंगा की पूजा की विधि के अतिरिक्त भावसिंह से लेकर विश्वासदेवी तक के समय के

राजाओं की कीर्ति-कथा भी वर्णित है। रानी विश्वासदेवी के कोई संतान न थी। अतः इनके बाद हरिसिंह राज्याधिकारी हुए। इन्होंने बहुत ही कम समय तक राज्य किया। इनके उपरांत नरसिंह राजा हुए, जिनकी आज्ञा से विद्यापति ने 'विभागसार' तथा 'दानवाक्यावली' नामक ग्रंथों की रचना की। पहली रानी से इनके दो पुत्र धीरसिंह और रूपसिंह हुए तथा दूसरी रानी से चंद्रसिंह और दुर्लभसिंह हुए। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण इनके बाद धीरसिंह ही सिंहासनारूढ़ हुए। धीरसिंह लगभग १४४० ई० तक राज्य करते रहे। ये भी बड़े प्रतापी, शत्रुंजेता तथा कीर्तिमान राजा थे। इनके दो पुत्र राघवसिंह तथा जगन्नारायण सिंह थे। धीरसिंह के बाद छोटे भाई भैरवसिंह को राज्य मिला। इन्होंने पाँच गौड़ राजाओं को पराजित किया। इनके समय में अनेक संस्कृत ग्रंथों की रचना हुई। इनकी ही आज्ञा से विद्यापति ने 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' की रचना की थी। इनके दो रानियाँ थीं। पहली रानी से पुरुषोत्तम और दूसरी रानी से रामभद्रसिंह उत्पन्न हुए।

ऊपर धीरसिंह के पुत्रों का उल्लेख हो चुका है जिनमें चंद्रसिंह मिथिला के कुछ भाग पर राज्य करते थे। आपकी रानी का भी नाम लखिमा था। आपके दरबार में भी विद्वानों का बड़ा आदर था।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि विद्यापति को कई राजाओं से आश्रय मिला, पर उनमें राजा शिवसिंह प्रधान हैं। शिवसिंह विद्यापति का बड़ा आदर करते थे और ये उनकी प्रशस्ति उल्लासपूर्वक गाया करते थे। विद्यापति कोरे कवि ही नहीं, कुशल राजनीतिज्ञ भी थे। इसका प्रमाण उन्होंने उस समय दिया था जब राजा शिवसिंह को धोखे से यवनों ने कैद कर दिल्ली में रखा था। विद्यापति उनको छुड़ाने के लिए किस प्रकार दिल्ली गये, किस प्रकार सुलतान को अपना चमत्कार दिखलाकर उन्हें छुड़ाया, इस संबंध की किंवदंती का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यही नहीं, शिवसिंह की मृत्यु के उपरांत उनकी रानी लखिमा देवी के लिए भी कवि ने जो किया उसका भी उल्लेख हो चुका है।

शिवसिंह की ओर से बिसपी गाँव देने की चर्चा भी आ चुकी है। राजा और रानी दोनों समय-समय पर कवि को दान देते और अनेक प्रकार से सम्मानित करते रहते थे। जितना गौरव कवि को इस समय प्राप्त हुआ उतना फिर कभी नहीं हुआ; यद्यपि इस वंश के अनेक राजा इनके आश्रयदाता हुए जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इनमें से बहुतों के राजत्वकाल में विद्यापति ने अनेक ग्रंथ रचे और उनमें उन राजाओं की प्रशंसा भी की। अस्तु।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि विद्यापति का जीवन अनेक उदार राजाओं के बीच व्यतीत हुआ था। अतः जैसा सम्मान-सत्कार मैथिलकोकिल का हुआ वैसा अन्य मैथिल कवि का नहीं हुआ। फिर भी ध्यान देने की बात यह है कि इन्होंने अपना समय और अपनी शक्ति केवल आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही नहीं लगायी प्रत्युत 'स्वांतःसुखाय' भी बहुत-सी रचना की। ऐसी रचना सर्वदा इनके नाम को अमर बनाये रखने में समर्थ हैं। मैथिलकोकिल कवि विद्यापति की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है।

रचनाएँ

भाषा-भेद के विचार से विद्यापति की रचनाएँ तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं—संस्कृत की रचनाएँ, अवहट्ट (अपभ्रंश) की रचनाएँ और देशी भाषा मैथिली की रचनाएँ। भू-परिक्रमा, पुरुष-परीक्षा, लिखनावली, विभागसार, वर्णकृत्य, गयापत्तल, शैवसर्वस्वसार, प्रमाण-भूत पुराण-संग्रह, गंगावाक्यावली, दानवाक्यावली और दुर्गाभक्ति-तरंगिणी संस्कृत की रचनाएँ हैं। कीर्तिलता, कीर्तिपताका तथा कुछ फुटकल रचनाएँ (शिवसिंह का राज्यारोहण और युद्धवर्णन) अपभ्रंश में लिखी गयी हैं। पदावली की भाषा मैथिली है।

उपर्युक्त ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—'भूपरिक्रमा' राजा देवसिंह की आज्ञा से लिखी गयी थी। उसमें बलरामजी के उस भ्रमण का वर्णन है जो वे शापग्रस्त होने पर प्रायश्चित्त-स्वरूप अनेक तीर्थों का करते रहे। भ्रमण-वर्णन के साथ-साथ उन कहानियों का वर्णन भी इस ग्रंथ में बड़े रोचक ढंग से किया गया है जो उन्हें मिथिला लौटने पर सुनायी गयी थीं।

'पुरुषपरीक्षा' की रचना राजा शिवसिंह की आज्ञा से की गयी थी। ऐसा ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ नवीन बुद्धिवाले बालकों को नीति-परिचय कराने तथा काम-कला में कौतुक रखनेवाली पुर की स्त्रियों को हर्ष पहुँचाने के लिए लिखा गया था। इसमें दयावीर, दानवीर, हासविज्ञ पुरुषों की कहानियाँ भी बड़े रोचक ढंग से कही गयी हैं।

'लिखनावली' बनौली राज के राजा पुरादित्य की आज्ञा से लक्ष्मणाब्द २९० में लिखी गयी थी। इसका उद्देश्य कम पढ़े-लिखे लोगों को संस्कृत में चिट्ठी-पत्री लिखना सिखलाना था।

'विभागसार' महाराज शिवसिंह के चचेरे भाई महाराज नरसिंह देव के समय में लिखा गया था। इसमें 'दायभाग' अर्थात् संपत्ति के बँटवारे के नियम दिये गये हैं। इस ग्रंथ से तत्कालीन मिथिला की सामाजिक स्थिति का भी पता चलता है।

'वर्षकृत्य' में बारहों महीनों के शुभ कर्मों का विधान दिया हुआ है और व्रत, पूजा, दान आदि के नियम सप्रमाण बतलाये गये हैं। 'सधवाकृत्य' के नाम से भी इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि है।

'गयापत्तलक' में गयाश्राद्ध-सम्बन्धी बातों का विवेचन रहा होगा। वह ग्रंथ अभी अप्राप्य है।

'शैवसर्वस्वसार' राजा शिवसिंह की मृत्यु के बहुत दिनों के उपरांत मिथिला-नरेश महाराज पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी के समय में लिखा गया था। उसमें शिवपूजन-विधि पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। साथ ही राजा भावसिंह से लेकर रानी विश्वासदेवी के समय तक के राजाओं का कीर्तिगान भी किया गया है।

'प्रमाणभूत पुराणसंग्रह' की रचना शैवसर्वस्वसार के ठीक पीछे हुई है। इसमें उन बातों के प्रमाण संगृहीत हैं जो शैवसर्वस्वसार में दी गयी हैं।

'गंगावाक्यावली' में गंगास्नान तथा गंगातट पर के दान-माहात्म्य आदि का वर्णन है। यह पुस्तक भी रानी विश्वासदेवी की आज्ञा से लिखी गयी थी।

'दानवाक्यावली' की रचना महाराज नरसिंह देव की रानी धीरमती की आज्ञा से की गयी थी। कवि ने इसे उन्हीं को समर्पित भी किया है। इसमें भी बारहों महीनों के दानों के संकल्प-वाक्यों का उल्लेख है। इस ग्रंथ से उस समय की परिस्थिति का भी पूरा-पूरा पता चलता है। उस समय के प्रचलित वस्त्रों का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है—साधारण सूत का वस्त्र, सरोम वस्त्र (सूत-मिश्रित रोएं का वस्त्र), क्षौमवस्त्र (अलसी के रेशे से बना वस्त्र), कौशेय वस्त्र (कोश

से निकाले हुए रेशम से बना वस्त्र), कुशवस्त्र (कुश घास से बनाया हुआ वस्त्र), कृमिज वस्त्र (कीड़ों से निकाले रेशम के वस्त्र), मृगरोमज वस्त्र (मृग-रोम से बना वस्त्र), वृक्षत्वक्-संभव वस्त्र (वल्कल)।

'दुर्गाभक्तितरंगिणी' कवि की अंतिम कृति है। यह ग्रंथ महाराज भैरवसिंह की आज्ञा से आरंभ किया गया था, परंतु इसकी समाप्ति महाराज धीरसिंह के समय में हुई। इसमें दुर्गापूजा की विधि, माहात्म्य तथा प्रमाण दिये गये हैं।

'कीर्तिलता' विद्यापति का प्रथम ग्रंथ है। इसको इन्होंने २० वर्ष के वय में लिखा था। इसमें महाराज कीर्तिसिंह की दानशीलता, वीरता तथा राजनीतिज्ञता का विशद वर्णन है। इस ग्रंथ से तत्कालीन परिस्थिति का पता पूर्ण रूप से चल जाता है। इसका कथानक छोटा होते हुए भी वर्णनात्मक चित्रों से पूर्ण है। गणेश्वर की मृत्यु के बाद अराजकता का जो प्रचार हुआ उसका संक्षेप में यह भावपूर्ण वर्णन बहुत ही अच्छा है। कीर्तिसिंह और वीरसिंह दोनों भाइयों की जौनपुर की पैदल यात्रा का करुणात्मक वर्णन भी बड़ा ही हृदयग्राही है। जौनपुर की समृद्धि तथा वेश्याओं और वैश्य-वनिताओं के वर्णन में कवि की रसिकता का पूरा प्रमाण मिलता है। मुसलमानों के अत्याचार, सेना के प्रयाण और संग्राम के चित्र भी अच्छे उतारे गये हैं।

इतना सब होते हुए भी 'कीर्तिलता' का महत्त्व उसकी भाषा के लिए है। जिस समय सन् १३८० ई० में यह ग्रंथ बना उस समय संस्कृत और प्राकृत का प्रभाव कविता-क्षेत्र से हट चुका था। उत्तरी भारत में आधुनिक आर्यभाषाएँ बोली जाने लगी थीं। पर अभी तक सब 'अपभ्रंश' के नाम से ही पुकारी जाती थीं। कीर्तिलता की भाषा को पुरानी मैथिली या पूर्वी अपभ्रंश कहना अधिक संगत प्रतीत होता है। पर इसकी भाषा में पश्चिमी या नागर अपभ्रंश की भाँति संस्कृत की भी पूरी-पूरी छाप है। फिर भी इस पर प्राकृत का अधिक प्रभाव है। यह देशी वाणी के अधिक निकट है।

'कीर्तिपताका' को महाराज शिवसिंह के समय में कवि ने लिखा था। इसमें महाराज की कीर्ति का वर्णन किया गया है। इसकी एकमात्र हस्तलिखित प्रति मिथिलाक्षर में नेपाल राज्य के पुस्तकालय में है। दोहा, छंद तथा गद्य में यह ग्रंथ लिखा गया है। ग्रंथ के आदि में कवि ने 'चंद्रचूड़' के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप का वर्णन किया है और गणेशजी की भी वंदना की है। इसमें प्रेमविषयक कविता है। बीच-बीच में महाराज शिबसिंह के आचरण का वर्णन भी कवि करता गया है।

यद्यपि सुकवि विद्यापति ने अनेक ग्रंथ संस्कृत तथा अवहट्ट-भाषा में लिखे, पर इनकी प्रसिद्धि विशेषतया 'पदावली' ही के कारण हुई। विद्यापति समय-समय पर जो पद मैथिली भाषा में गाते थे उन्हीं का संग्रह 'विद्यापति-पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रायः सभी पद गेय है। इनके पदों को आज मिथिला-निवासी बड़े प्रेम से गाते हुए पाये जाते हैं। इनकी इस रचना के आदर्श 'जयदेव' थे। अतः इनकी रचना जयदेव के पद के समान ही संगीतपूर्ण कोमल-कांत पदावली में हुई है। इनकी 'पदावली' में संस्कृत की कोमलता नहीं है, प्रत्युत मैथिली की कोमलता है। कोमल-कांत पदावली के लिए मैथिली प्रसिद्ध ही है। इनके आश्रयदाता महाराज शिवसिंह ने इनके पदों पर मुग्ध होकर स्वर बैठाने के लिए किसी कायस्थ कत्थक के पुत्र को नियुक्त कर दिया था। विद्यापति गान-विद्या के भी मर्मज्ञ थे, अन्यथा संगीत के ज्ञान के बिना ऐसे गेय पदों की रचना संभव नहीं थी। गेय पद होने के कारण कहीं-कहीं पदों में छंदोभंग-सा प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। संगीत की सुर-लय के अनुसार जो पद बनाये जाते हैं उनमें ध्वनि का ही बिचार विशेष रूप से किया जाता है, अक्षर तथा मात्रा का नहीं। यही कारण है कि आगे चलकर सूरदास के पदों में भी यही बात पायी जाती है।

इनके पदों की संख्या का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने ९४५ पदों का संग्रह 'विद्यापति पदावली' में किया है। बाबू व्रज-

नंदनसहाय का संग्रह 'मैथिलकोकिल विद्यापति' इससे छोटा है। पर उसमें कुछ पद ऐसे हैं जो गुप्तजी के संग्रह में नहीं हैं। विद्यापति की 'पदावली' का सबसे प्रामाणिक श्रेष्ठ ग्रंथ खगेंद्रनाथ मिश्र तथा विमानविहारी मजूमदार का 'विद्यापति' है जिसमें पोथियों में प्राप्त पदों का संग्रह तो किया ही गया है, साथ ही वैज्ञानिक दृष्टि से विचार भी किया गया है। कुछ दिन हुए सुभद्र झा ने नेपालवाली पोथी की भाषा पर विचार करते हुए इसका सुन्दर सम्पादन किया है। इनके बहुत से पद अप्रकाशित भी हैं। मिथिला की स्त्रियाँ जिन पदों को विवाहोत्सव में गाती हैं वे किसी पदावली में संगृहीत नहीं हैं। बहुत-सी नचारियों का अभी तक संग्रह नहीं हो सका है। विद्यापति ने पदों की रचना भावोद्रेक के कारण की थी, न कि किसी विषय-विभाग को लक्ष्य में रखकर। लोगों ने विद्यापति के देहावसान के अनंतर उनके पदों का पृथक्-पृथक् विभाग करके उन्हें एकत्र कर 'विद्यापति-पदावली' नाम से भूषित किया।

इनके पदों के तीन प्राचीन लिखित संग्रह मिले हैं। पहला तालपत्र पर लिखा हुआ मिथिला से प्राप्त हुआ है। इसके विषय में कहा जाता है कि यह विद्यापति के प्रपौत्र का लिखा हुआ है। दूसरा हस्तलिखित प्रामाणिक संग्रह नेपाल राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित है। तीसरा संग्रह 'रागतरंगिणी' है जो लोचन कवि द्वारा संगृहीत है। इसमें अन्य कवियों की रचनाओं के साथ-साथ विद्यापति के बहुत से पद भी रखे हुए हैं। पहली दोनों प्रतियों की भाषा बहुत ही अशुद्ध है जिससे कहीं-कहीं पदों का अर्थ ही स्पष्ट नहीं हो पाता। शुद्धाशुद्ध के लिए अब तक मिथिला की स्त्रियाँ ही प्रमाण हैं क्योंकि उन्होंने इनके पदों की यथार्थ रक्षा की है। इन स्त्रियों के ये पद परंपरा से प्राप्त हैं।

'विद्यापति की पदावली' का हिंदी-साहित्य में अपना पृथक् महत्त्व है। इसमें ऐसे पद पाये जाते हैं जिनका आदर राजाओं के प्रासादों से लेकर दीनों की झोपड़ियों तक समान रूप से है। भूतभावन के मन्दिर से लेकर 'कोहबर' तक इनके पदों का एक-सा सम्मान किया जाता है। एक

शिव-भक्त जिस प्रकार बड़े प्रेम से 'कहब न हरब दुख मोर हे भोलानाथ' गाते-गाते तन्मय हो जाता है उसी प्रकार रमणियाँ नववधू को कोहबर में ले जाती हुई 'सुंदरी चललिहुँ पहु घर ना जाइतहि लागु परम डर ना' गाकर वर-वधू के हृदय में अनिर्वचनीय आनंद का उद्रेक करती हैं। जिस प्रकार नवयुवक 'ससन-परस खसु अंबर रे देखलि धनि देह' पढ़कर रमणीय कल्पना की धारा में मग्न हो जाता है उसी प्रकार एक वयोवृद्ध 'तातल सैकत वारिबुंद सम सुत मित रमनि समाज, तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु अब मझु हब कोन काज, माधव, हम परिनाम निरासा' गाता हुआ नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लगा देता है। इसी बात पर मुग्ध होकर संभवतः डाक्टर ग्रियर्सन ने कहा है—

Even when the sun of Hindu religion is set, when belief and faith in Krishna and in that medicine of 'disease of existence' the hymns of Krishna's love is extinct, still the love borne for songs of Vidyapati in which he tells of Krishna & Radha will never diminish.

एक स्थान पर डाक्टर साहब फिर लिखते हैं—

The glowing stanzas of Vidypati are read by the devout Hindu with a little of the baser part of the human sensuousness as the songs of the Soloman by the Christian priests.

उपर्युक्त कथन का प्रमाण बंगाल में प्रत्यक्ष मिल जाता है। वहाँ आज भी सहस्रों स्त्रियाँ राधा-कृष्ण-विषयक पदों का कीर्तन बड़ी तन्मयता के साथ करती हुई देखी जाती हैं।[1]

---

१. कृ० दे० श्री बेनीपुरी की विद्यापति की पदावली, पृष्ठ ४५ (परिचय)।

विद्यापति के पदों को विषयानुकूल हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—श्रृंगारिक, भक्तिरसात्मक तथा विविध-विषयक। सबसे पहले श्रृंगारिक पदों का नाम इसलिए लिया गया कि विद्यापति श्रृंगारिक कवि थे। उनकी अधिकांश रचनाएँ श्रृंगार-प्रधान हैं। इस विभाग के अन्तर्गत वे सभी पद आ जाते हैं जो राधा-कृष्ण का नाम देकर अथवा केवल नायक-नायिका के संबंध में कहे गये हैं। दूसरा विभाग भक्ति-विषयक पदों का है। श्रृंगारी पदों के अनंतर ऐसे ही पद अधिक मिलते हैं। विद्यापति थे तो शैव, पर अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी उदार भाव रखते थे। अतः इसी शीर्षक के अंतर्गत शिव की नचारियाँ, दुर्गा, गौरी तथा गंगा-स्तुति के पद गृहीत किए गये हैं। कुछ पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें राधा-कृष्ण का वर्णन शुद्ध भक्तिभाव से किया गया है। उन्हें भी इसी विभाग में रखा जा सकता है। विविध-विषयक विभाग में बहुत कम पद हैं। इनमें से कुछ 'प्रहेलिका', 'कूट' आदि से संबंध रखते हैं और कुछ शिवसिंह के राज्यारोहण तथा युद्ध-वर्णन आदि के हैं। इन विभागों की समीक्षा करने के पूर्व इन गीतों की परंपरा का विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अतः अगले प्रकरण में इसी का संक्षिप्त परिचय करायेंगे।

गीतकाव्य और उसकी परंपरा

हृदय की तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति गीत है। विविध भावधाराओं में बहता हुआ मनुष्य गीत के रूप में अपने हृदय को खोलता है। सुख में, दुःख में; आशा में, निराशा में; आसक्ति में, विरक्ति में; उत्साह में, भय में जब कभी मनुष्य भावातिरेक से तन्मय और विह्वल-सा हो जाता है तभी मानस से वेगवती स्रोतस्वती फूट निकलती है। इस वेग में उसकी भाषा असामान्य और उसकी शैली असाधारण हो जाती है। उसके हास्योद्रेक और रुदन-विलाप में लय का स्वर-सा बँध जाता है।

गीत और प्रबंध ये हृदय की अभिव्यक्ति के दो ढाँचे हैं। प्रबंध में व्याख्या होती है। जड़ और चेतन प्रकृति के स्वरूप, व्यापार और विभिन्न संबंधों का वर्णन होता है। जीवन के प्रत्यक्ष क्रिया-कलापों का क्रमबद्ध विवेचन होता है। अतः इसके रचयिता की दृष्टि सदैव बहिर्मुखी होती है। गीत इससे सर्वथा भिन्न है। इसमें व्याख्या का नाम नहीं। इसमें दृश्य जगत् के चित्रण का वैसा प्रयास नहीं। यह वर्णनात्मक न होकर अधिकतर वेदनात्मक होता है। इसके उद्‌गार ही आकस्मिक और वेगवान् होते हैं। अतः इसके लिए कथा का आधार अपेक्षित नहीं। इसी लिए इसमें क्रमबद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता। गीतकार की दृष्टि अधिकतर अन्तर्मुखी होती है। वह वेदना के स्वरूप, उसकी गति आदि पर जितनी दृष्टि रखता है उतनी गृहीत वर्ण्य वस्तु या विषय पर नहीं।

पर इससे यह न समझना चाहिए कि प्रबंध और गीत एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न रहनेवाले होते हैं। दोनों संबद्ध रूप में भी रह सकते हैं। प्रबंध में गीत के समावेश की और गीत में कथा के आधार-ग्रहण की गुंजाइश बराबर रहती है। अस्तु, गीत के दो रूप मिलते हैं। एक है

प्रबंध-गीत और दूसरा है मुक्तक गीत। प्रबंध-गीत में किसी-न-किसी कथावस्तु का विशेष आश्रय लिया जाता है। इसके लिए अधिकतर प्रेम-कहानी विशेष उपयुक्त होती है। संगीत इसकी प्रमुख विशेषता है। प्रबंध-काव्य और प्रबंध-गीतों में अंतर यह है कि पहले में कथा का संबंध-निर्वाह चाहे, वह कितना ही विच्छिन्न क्यों न हो, थोड़ा-बहुत रहता अवश्य है। पर प्रबंध-गीतों में इसकी कोई आवश्यकता नहीं। दूसरी बात यह है कि प्रबंध-काव्य अधिकतर वर्णनात्मक होता है और प्रबंध-गीत में वेदना प्रधान होती है।

गीत के क्षेत्र दो हैं। एक ओर तो वह साहित्य की श्री-वृद्धि करता है और दूसरी ओर वह साधारण जनता का रंजन करता है। साहित्यिक गीत संस्कृत होता है। उसमें कलात्मकता रहती है। उसकी भाषा सुष्ठु, भावानुकूल और परिमार्जित होती है, कल्पना और भावों का निदर्शन काव्य-नियमों के अनुरूप होता है। लोकगीत में स्वाभाविकता विशेष पायी जाती है। इसमें कृत्रिमता और कला-प्रयोग का नाम नहीं। इसमें सरलता की मिठास और स्पष्टता का आकर्षण होता है। साहित्यिक गीत जहाँ परिमार्जित रुचिवाले शिक्षित समुदाय को आनंदित करता है, लोकगीत साधारण समाज के असंख्य नर-नारियों का मनोरंजन करता है और उनकी भावनाओं एवं मनोवृत्तियों को अज्ञात रूप से प्रभावित कर संस्कृति की रक्षा और निर्माण में भी योग देता है।

साहित्यिक गीत और लोक-गीत दोनों में हम प्रबंध और मुक्तक रूप पाते हैं। प्रबंध-गीत में प्रबंध-काव्य की भाँति ही कथा, कथोपकथन, वस्तु-वर्णन और भावाभिव्यक्ति होती है। इन चारों प्रमुख तत्त्वों में, प्रबंध-गीत में भावाभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। प्रबंध-गीतों में प्रेम और वीरता के भाव अधिक व्यक्त रहते हैं। मुक्तक में पुरुष भावों की अभिव्यक्ति नहीं होती। मुक्तक गीत की अपेक्षा प्रबंध-गीत में कवि की कृति अधिक बंधनों में बँधी रहती है। उसमें कथा-सूत्र भी मिल जाता है, वर्णन भी थोड़ा-बहुत रहता है और कथोपकथन भी यत्र-तत्र

पाये जाते हैं। प्रबंध-काव्य और प्रबंध-गीतों को लें तो पहले में जहाँ रस की धारा होती है वहाँ दूसरे में रसोत्कर्ष प्रसंग-परक होता है और उसके खण्ड-चित्रों के अनुरूप उसके प्रभाव विविध होते हैं। प्रबंध-गीत की उससे यह भी भिन्नता है कि वह गेय होता है और संगीत के नियमों के अनुसार अधिकतर इसकी रचना होती है। मुक्तक गीत इससे सर्वथा पृथक् है। इसमें कथा तो प्रायः होती ही नहीं। वर्णन और कथोपकथन भी या तो रहते ही नहीं, यदि रहते भी हैं तो कथा की पुष्टि के लिए नहीं प्रत्युत भावों की तीव्रता के लिए। कोमल भावों की सघनता और अनुभूति की तीव्रता इसका प्रमुख लक्षण है। मुक्तक गीत से प्रगीत मुक्तक (Lyrcs) अपना पृथक् स्थान रखते हैं। गीतकाव्य से पृथकता दिखलाने के लिए हिंदी में इसके लिए 'गीतिकाव्य' शब्द रूढ़ हो चला है। इसे प्रगीत-काव्य भी कहते हैं। कहना न होगा कि गीति-काव्य या प्रगीत-मुक्तक पश्चिम से आया है और इस पर पाश्चात्य कला-नियमों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदी-साहित्य में उन्नीसवीं शती के पूर्व प्रगीत-मुक्तक रचनाओं का अभाव था।

गीतिकाव्य अपने यहाँ के गीतकाव्य से इस बात में भिन्न है कि वाद्ययंत्रों के साथ गेयता इसका सहज लक्षण नहीं है। इसका अनिवार्य लक्षण है कवि के वैयक्तिक विचार और भावना की वेगवती अभिव्यक्ति—ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें एक विचार, एक अमिश्र अनुभूति और भावना हो। इस लक्षण के अनुसार गीतिकाव्य के अंतर्गत मीरा के पद तो आ जायंगे, किंतु विद्यापति के नचारी और सूर-तुलसी के आत्मनिवेदन, दैन्य, मनोराज्य इत्यादि के. विनय के पदों को छोड़कर शेष न आयेंगे, क्योंकि यहाँ काव्यगत पात्रों की अनुभूति कवि की अनुभूति से भिन्न मानी जाती है। ऐसा मानने का कारण है काव्य का पाश्चात्य वर्गीकरण जो अंतर-निरूपण और बाह्यार्थ निरूपण को काव्य का भेदक लक्षण मानकर चलता है। यहाँ इसकी सम्यक्ता पर विचार करने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है। पर इसे उचित मान भी लें तब भी यह प्रश्न तो उठ खड़ा ही होता है

कि अपनी विभूति को पाश्चात्य तुला पर रखकर तौलने की आवश्यकता ही क्या ? कुछ भी हो पर आज गीति ने हिंदी-साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है और इसके कारण गीतकाव्य के मोटे-मोटे तीन रूप दिखलाई पड़ते हैं—१. वे छंद, पद या गीत जिनमें संगीत तत्त्व प्रधान होता है। २. वे जिनमें काव्यत्व और संगीतत्व का संतुलन रहता है। ३. वे जिनमें काव्यत्व की प्रधानता प्राप्त है। स्तुति, प्रार्थना, वंदना इत्यादि के पद प्रथम कोटि में; विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास इत्यादि के द्वितीय में और आधुनिक गीत तृतीय में आयेंगे।

यहाँ तक हुई गीतकाव्य के प्रकार की बात। अब उसकी परंपरा पर विचार करना चाहिए। गीतकाव्य की परंपरा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। भारतवर्ष में तो आर्यों के इतिहास के समानांतर इसका भी इतिहास है। यदि गीत तीव्र भाव के उद्‌गार हैं तो इसका आरंभ वाक्‌शक्ति के उदय के ही कुछ कालोपरांत माना जाना चाहिए। संवेदनशील मानव का प्रथम भाव-व्यंजन गीत ही रहा होगा और धीरे-धीरे इसका प्रचार हुआ होगा। नाटक के मूल तत्त्व नृत्य और गीत इसकी अति प्राचीनता पर प्रकाश डालते हैं। सुख में, दुःख में, जन्म, विवाह और मरण में, अवकाश के समय और धार्मिक अवसरों पर गीतों का प्रयोग आदिम काल में भी अवश्य रहा होगा। इस प्रकार अति प्राचीन काल से ही गीत जीवन के साथ लग गया होगा। यही अनुमान अधिक सत्य प्रतीत होता है। आर्यों की सबसे प्राचीन रचना ऋग्वेद है। यह भी गीत-ग्रंथ ही है। ऋग्वेद की ही ऋचाओं से सामवेद संकलित हुआ है। वह संगीत-तत्त्व-प्रधान है। सामवेद मानव-जाति का सबसे पुराना गीत-ग्रंथ है। यह बात नहीं कि इसके गाने अनियमित हैं और उनके लिए कोई 'लक्षण' नहीं, प्रत्युत प्रत्येक ऋचा संगीत के नियमों से अनुशासित है। सामवेद के गान के आधार पर ही राग-रागिनियाँ, उनका रंग-रूप, स्वर-ताल, समय-वेला, प्रभाव और सहकारी वाद्य आदि का निरूपण हुआ। फलतः गीत का अधिक प्रचार हुआ और संगीत एक

लोकप्रिय कला हो गया।

सामवेद के गान से भिन्न गीत-प्रणाली कब प्रचलित हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किन्तु इतना निश्चय है कि गीत एक ओर तो जनता में प्रवेश कर लोकगीत के रूप में परिणत हो गया, दूसरी ओर संगीत के विशेष प्रभाव के कारण यह गायकों की सम्पत्ति बन बैठा। कालांतर में गायकों की गंधर्व, मागध आदि जातियाँ भी बन गयीं और गीत एवं संगीत उनका पेशा हो गया। संभवतः भावावेशपूर्ण होने से इन गीतों में शृंगारिकता अधिकाधिक आती गयी और परिणामस्वरूप स्मृतिकारों ने संगीत की घोर निन्दा की। यही कारण है कि सामवेद के पश्चात् गीत का साहित्यिक रूप बहुत समय पीछे तक दिखाई ही नहीं पड़ता। लोक-गीत भले ही रहे हों, किंतु समूचे संस्कृत-साहित्य में जयदेव के पूर्व गीत-काव्य की परंपरा नहीं मिलती।

जयदेव पहले संस्कृत कवि हैं जिन्होंने ललित पदावली में गीतों की रचना की। इनके गीत मुक्तक हैं, जिनमें राधा-कृष्ण की लीलाओं का शृंगारिक निरूपण हुआ है। इनके गीत पदबद्ध हैं और विभिन्न रागों पर आश्रित हैं। स्वर-ताल से सधी हुई कोमल-कांत पदावली में रचित 'गीतगोविंद' के सभी गीत रसिक जनों के कंठहार हैं। 'गीतगोविंद' ने व्यापक लोकप्रियता प्राप्त की और इसकी परिपाटी-सी चल पड़ी। हिंदू-समाज में ज्यों-ज्यों कृष्ण-भक्ति का प्रचार हुआ, गीत का प्रचलन त्यों-त्यों बढ़ता गया।

हिंदी के प्रारंभ-काल में ही में प्रबंध-गीतों के दर्शन होते हैं। 'बीसलदेव रासो' शृंगार-प्रधान प्रबंध-गीत ही तो है। इसमें संयोग और वियोग दोनों अवस्थाओं के भावुक उद्‌गार भरे पड़े हैं। इसी समय के आसपास जगनिक का लिखा हुआ 'आल्हखंड' वीररसपूर्ण गीत-ग्रंथ है। यह भी प्रबंध-गीत है जिसमें आल्हा-ऊदल आदि वीरों के साहसपूर्ण कृत्यों का पृथक्-पृथक् प्रसंगानुसार वर्णन हुआ है। ये प्रबंध-गीत साहित्यिक दृष्टि से कलापूर्ण और तीव्र भाव-वेगों से ओत-प्रोत हैं।

हिंदी के वीरगाथाकाल के बाद ही मिथिला की अमराइयों में 'मैथिलकोकिल' के स्वरों में वह स्वर्ग-संगीत छिड़ा जो शीघ्र ही भारत में गूँज उठा और जिसकी संगीत-लहरी से सारा काव्योपवन लहरा उठा। अभिनव जयदेव विद्यापति ने भी राधा-कृष्ण को ही अपने काव्य का आलंबन माना और उनकी लीलाओं के भाव-चित्र निर्मित किए। विद्यापति के पद हिंदी-साहित्य में पदबद्ध मुक्तक गीत-काव्य के पथ-प्रदर्शक हैं और सूर आदि सभी कृष्ण-भक्त कवि छंद, शैली और संगीत के विचार से विद्यापति के आभारी हैं।

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का यह कथन सर्वथा सत्य है कि विद्यापति से सूरदास आदि ने कृष्ण-भक्ति नहीं पायी पर गीत की शैली अवश्य पायी ....शृंगार-काल के कवियों ने विद्यापति से चाहे गीत की शैली न पायी हो, पर शृंगार के आलंबन राधा-कृष्ण अवश्य पाये। अर्थात् एक ने अलंकार पाया, शैली पायी, वर्णन-विधि ली; दूसरे ने अलंकार्य पाया, गाथा पायी, वर्ण्य लिया। इस प्रकार विद्यापति ने आगे आनेवाले हिंदी-साहित्य को यहाँ से वहाँ तक प्रभावित कर दिया।

यद्यपि विद्यापति की 'पदावली' का वही विषय—राधा-कृष्ण का प्रेम—है जो जयदेव के 'गीतगोविंद' का है तथापि उनकी 'पदावली' में जिन नाना वृत्तियों और दशाओं का चित्रण हुआ है उसके कारण 'पदावली' में व्यक्त प्रणय अनूठा हो गया है। उसमें सौंदर्य के प्रति मानव-मन की जिस ललक की व्यंजना हुई है वह विद्यापति की अपनी है। यह आत्मनिष्ठता 'पदावली' को 'गीतगोविंद' से पृथक् कर देती है। इस दृष्टि से विद्यापति स्वतंत्र परंपरा के प्रवर्त्तक ठहरते हैं, 'गीतगोविंद' के अनुसरणकर्ता नहीं। मानवी सौंदर्य और प्रेम के चित्रण में विद्यापति में जो भावावेश है उसके कारण भाषा आपसे आप लय-ताल-समन्वित हो गयी है और चित्रण वैयक्तिक भावनाओं एवं स्वच्छंद तथा कोमल कल्पनाओं से जगमगा उठे हैं। इनके गीतों में भावना का सहज उद्रेक है, तल्लीनता है, आत्माभिव्यक्ति है, भले वह राधा-कृष्ण के माध्यम से हुई हो।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ नहीं कि विद्यापति के गीत जयदेव के गीत से एकदम भिन्न हैं। प्रेम की नाना दशाओं और शारीरिक व्यापारों का चित्रण बहुत कुछ मिलता-जुलता है। बहुत से पदों में तो केवल भाषा भर का अन्तर है, अन्यथा वे समान हैं। विद्यापति की भाषा, ध्वनि, लय में भी जयदेव का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

विद्यापति के पश्चात् तो मानो गीत-काव्य का निश्चित मार्ग प्रशस्त हो गया और हिंदी-साहित्य ऐसे गीतों से भर गया। इन गीतों में प्रधानतया कृष्ण की लोकरंजक लीलाओं का शृङ्गार और आगे चलकर भक्ति-मिश्रित आवेगपूर्ण मधुर वर्णन और निर्बन्ध उद्‌गार मिलते हैं।

जिस काल-विशेष का ऊपर वर्णन हुआ है उसमें साहित्य के साथ-साथ लोक-गीतों की धारा भी अक्षुण्ण रूप से बहती रही। जन्म के गीत, उपनयन-विवाह के गीत, उत्सवों के गीत, गृहस्थी के गीत; इस प्रकार अनेक रूपों में गीत प्रचलित रहे। ये गीत पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक प्रचलित हुए और स्त्री-वर्ग में अभी तक चलते आ रहे हैं। हमारे ग्राम-गीतों में भारतीय संस्कृति और लोक-वाणी की परंपरा सुरक्षित है।

भक्तिकाल के पश्चात् साहित्य में विलासपूर्ण शृंगारी रचनाओं का युग आया। कला-प्रदर्शन और चमत्कार का ध्येय माना जाने लगा। इस युग में मुक्तक रचनाएँ तो हुईं, किन्तु भावप्रधान संवेदनापूर्ण गीत कम रचे गये; क्योंकि रीतिकाल में उदाहरणों का संग्रह होने लगा और कवित्त, सवैये, दोहे, सोरठे आदि छंदों की धूम रही। पदों की ओर वे ही गये जो कृष्ण-काव्य लिखना चाहते थे और जिनका उद्देश्य उदाहरण प्रस्तुत करना नहीं था। फलतः गीत-रचना का क्रमशः ह्रास होता गया।

आधुनिक काल में गीतकाव्य की प्रवृत्ति पुनः पनपी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सूर-तुलसी इत्यादि की भाँति भक्ति-परक स्फुट पद तो लिखे ही, साथ ही 'चन्द्रावली' में गीत भी लिखे। श्रीधर पाठक ने भारत-स्तवन तथा राष्ट्रप्रेम के गीतों की रचना करके राष्ट्रीय गीतों की परंपरा चलायी।

पर द्विवेदी-युग की आदर्शवादी प्रवृत्ति सुधार की भावना और अभिव्यक्ति की इतिवृत्तात्मकता इसके विकास में बाधक सिद्ध हुई। इसके उपरांन्त छायावाद का युग आया जिसमें गीतकाव्य का चतुर्दिक् विकास हुआ। इस युग में जो गीत लिखे गये उनमें एक ओर भारतीय लोक-गीतों—बिरहा, कजली, लावनी, दादरा ऐसे गीतों—का प्रभाव दिखलाई पड़ता है और दूसरी ओर लिरिक (गीति) का जो अँगरेजी और बँगला की देखा-देखी हिंदी कविता में आयी। इस युग में गीत के अनेक कलात्मक रूप दिखलाई पड़ते हैं। 'प्रगतिवाद'-काल में भी गीत लिखे गये हैं, पर उनमें अधिकतर ऐसे गीत हैं जिनमें न वह नाद-सौन्दर्य है और न वह काव्यत्व जो छायावादी युग के गीतों में मिलता है। प्रयोगवादी गीत-काव्य को लोक-मानस तक पहुँचने का अवकाश ही नहीं क्योंकि वह प्रयोगावस्था में है। कुछ भी हो, बीसवीं शती का हिंदी-काव्य तो प्रगीत-प्रधान हो रहा है। इनमें से कुछ अच्छी रचनाएँ भी हैं। आशा है इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती जायगी। लोकगीतों में भी समयानुकूल परिवर्तन दिखाई पड़ रहे हैं। हमारी राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव हमारे लोक-गीतों पर भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है।

यह प्रगीतों का युग है। इसमें गीतों की अधिकता का अनुभव इसी से कर लीजिये कि प्रबंध-काव्यों में भी गीत रखे जाने लगे हैं और अधिक रखे जाने लगे हैं। पर, जैसा कि आगे कहा जा चुका है, नवीन युग के गीत अधिकतर विदेशी अनुकरण कर रहे हैं। इसलिए उनमें भारतीयता की कमी हो जाती है। भारत के प्राचीन गीतों में अभ्यन्तर के साथ-साथ बाह्य का भी योग रहता था, पर नये प्रगीत अधिकतर बाह्यार्थ शून्य होते हैं। यदि कवि लोग अपनी प्रवृत्ति बदलें और इधर बढ़ें तो उन्हें विद्यापति आदि से विशेष प्रेरणा मिल सकती है।

काव्य का स्वरूप

विद्यापति के काव्य की अंत:प्रेरणा के संबंध में विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। कुछ लोग इन्हें रहस्यवादी कवि मानते हैं, कुछ इन्हें भक्तों की उस श्रेणी में रखते हैं जिसमें जयदेव और सूरदास की गणना होती है और कुछ लोग इन्हें शुद्ध श्रृंगारी कवि मानते हैं। यहाँ पर इनकी 'पदावली' को ध्यान में रखते हुए इसका तर्कपूर्ण विवेचन कर लेना समीचीन ज्ञात होता है।

'पदावली' के श्रृंगारी पदों में यद्यपि कहीं-कहीं 'परमपद', 'परमानंद' ऐसे शब्द आये हैं, पर इनसे यही सिद्ध होता है कि ये सब आलंकारिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, न कि आध्यात्मिकता के कारण। अत: इसमें आध्यात्मिक पक्ष (Spiritual aspect) की कल्पना करना ठीक नहीं। एक उदाहरण लीजिये—

"परमपद-लाभ-सम मोद थिर हृदय रम
नागरी-सुरत-सुख अमिय मेला।"

यहाँ कवि मान का वर्णन करता हुआ उपमान रूप में 'परमपद' शब्द का प्रयोग कर रहा है। अत: उपमालंकार के अवयव के रूप में प्रयुक्त इस 'परमपद' शब्द को लेकर आध्यात्मिक स्वरूप की कल्पना कर बैठना दूर की कौड़ी लाना ही कहा जायगा। यदि ऐसे शब्दों के ही कारण इन पदों में अध्यात्म की व्यंजना समझी जायगी तो बिहारी के ऐसे दोहे परम ज्ञान या अद्वैतवाद के प्रतिपादक माने जाने लगेंगे—'चाहत प्रिय-अद्वैतता कानन सेवत नैन।'

भारतीय परंपरा के अध्यात्म में घोर श्रृंगार के लिए कोई स्थान नहीं। यदि किसी श्रृंगारी संबंध की आत्म-परमात्म के लिए कल्पना की

भी जाती है तो उसका स्थूल रूपक मात्र ग्रहण किया जाता है, सूक्ष्म ब्यौरों तक जाना या किसी संबंध की प्रतीकवत् स्थापना करना यहाँ की देशी प्रवृत्ति के विरुद्ध है। सूफियों की विदेशी परंपरा इसके ठीक विपरीत है। वहाँ कामिनी, मदिरा तथा प्याला आदि का प्रतीकवत् व्यवहार होता है। इस भेद पर ध्यान न देने के कारण ही जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने अपनी 'मैथिली क्रिस्टोमैथी' में राधा को जीवात्मा, कृष्ण को परमात्मा और दूती को गुरु बनाया है और संभवतः उन्हीं की देखा-देखी कुछ देशी समीक्षकों[१] ने भी विद्यापति को रहस्यवादी लोक में घसीट ले जाने का प्रयत्न किया है। किंतु विद्यापति को रहस्यवादी कहना भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि उनपर रहस्यवाद का प्रभाव होता तो सिद्धों और सूफियों की उपासना-पद्धति से 'पदावली' ऐसी अछूती न रह सकती कि 'सद्गुरु' का नाम तक न आये और उनके प्रिय प्रतीक उसमें ढूंढ़ने से भी न मिलें।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री का भी मत है कि विद्यापति की पदावली में आध्यात्मिक भावना नहीं है। यद्यपि यह ठीक है कि भावुक बंगाली वैष्णव इसे गाते हैं पर इसी आधार पर यह कभी नहीं कहा जा सकता कि कवि ने आध्यात्मिक भावना से प्रेरित होकर इसे लिखा है। विद्यापति की पदावली में जो आध्यात्मिक भावना ढूंढ़ते हैं उनका विरोध करते हुए आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीतगोविंद' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्णभक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। इस संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्तन कृष्ण-भक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ वर्णित हैं उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ

१. द्र० दे० श्री जनार्दन मिश्र कृत 'विद्यापति' और श्री कुमारस्वामी कृत 'सांग्स आव् विद्यापति'।

है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी जाती है। जहाँ वृन्दावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्य रूप में हैं, इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।"[1] फिर यह भी सोचने की बात है कि 'हे सखि मानुष जनम अनूप' का उद्घोष करनेवाला, पार्थिव मानव-सौंदर्य का उपासक—जिसकी भावना नारी के वक्षसौंदर्य पर घनीभूत होती दिखलाई पड़ती है और शिव, सुमेरु, सुरसरी सबको यहीं उतार लाती है—अपरोक्ष की ओर ताकने जायगा ही क्यों ? वह तो सब कुछ मानव-रूप, मानव-प्रेम और मानव-आनन्द में ही पा जाता है। इतना ही नहीं, उस काल की परिस्थितियों को देखते हुए यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट है कि उस समय राधा-कृष्ण को लेकर अत्यधिक शृंगार की रचना की गयी है, पर यह प्रयत्न किसी ने नहीं किया कि उसकी रचना आध्यात्मिक मानी जाय। विद्यापति स्वयं अध्यात्म की भावना लेकर नहीं आये थे। उन्हें तो शृंगार का ही गांभीर्य दिखलाना अभीष्ट था। उनके शृंगारी पदों में एक ही प्रकार की भावना पायी जाती है। यदि अनेक प्रकार की भावनाएँ मिलतीं तो कोई दूसरा अभिप्राय भी माना जा सकता था। ऐसी दशा में उनकी ऐसी रचनाओं को शृंगार-काव्य ही मानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि जिसने नायिका-भेद पढ़ा है वह यदि उससे 'पदावली' को मिलाकर पढ़े तो उसे यह साफ पता लग जायगा कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई अन्तर है तो यह कि पदों में नायिका और नायक के स्थान पर राधा और कृष्ण के नाम आये हैं। रीतिशास्त्र के अभ्यासियों को भाषा के अतिरिक्त विषयगत कोई नवीनता 'पदावली' में न दिखाई देगी। इस विचार से भी 'पदावली' की राधा-कृष्ण-संबंधिनी रचनाएँ शृंगारी काव्य के ही अंतर्गत आती हैं। यहाँ पर यह बात भी भली-भाँति जान लेनी चाहिए कि विद्यापति उदार कवि थे। उन्हें काव्य के क्षेत्र में सांप्रदायिकता का पचड़ा

1. 'हिंदी-साहित्य का इतिहास'।

पसन्द न था। यही कारण है कि उन्होंने अपने अन्य ग्रंथों के आदि में तो शिव, दुर्गा, सरस्वती आदि की वंदनाएँ की हैं, पर 'पदावली' श्रीकृष्ण और राधा की वंदना से ही आरंभ होती है।

'कीर्तिलता' के आरंभ में कवि ने शिव की वंदना की है—

पितरुपनय मह्यं नाकनद्या मृणालं
न हि तनय मृणालः किन्त्वसौ सर्पराजः।
इति रुवति गणेशे स्मेरवक्त्रे च शम्भौ
गिरिपतितनयायाः पातु कौतूहलं वः॥

शिव की वंदना के पश्चात् सरस्वती की वंदना की गयी है—

द्वाः सर्वार्थसमागमस्य रसनारंगस्थलीनर्तकी
तत्त्वालोकनकज्जलध्वजशिखा वैदग्ध्यविश्रामभूः।
श्रृंगारादिरसप्रसादलहरी स्वर्लोककल्लोलिनी
कल्पान्तस्थिरकीर्तिसम्भ्रमसखी सा भारती पातु वः॥

उद्धृत वंदनाओं से स्पष्ट है कि कवि ने शिव की वंदना आराध्य देव के नाते और सरस्वती की वंदना काव्य-देवता के नाते की है। पर 'पदावली' के आरंभ में कृष्ण और राधा की जो वंदना की गयी है उसे देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि विद्यापति ने इनकी स्तुति श्रृंगार के अधिष्ठाता देवता के रूप में की है, किसी विशेष सम्प्रदाय के देवता के रूप में नहीं।

'पदावली' में श्रीकृष्ण की वंदना इस प्रकार है—

नंद क नंदन कदंब क तरु तर
धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय संकेत निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोलि पठाव।
सामरि, तोरा लागि
अनुखन बिकल मुरारि।

जमुना क तिर उपबन उदबेगल
फिरि फिरि ततहि निहारि।
गोरस बेचए अवइत जाइत
जन जन पुछ बनमारि।
तोहे मतिमान, सुमति, मधुसूदन
बचन सुनह किछु मोरा।
भनइ विद्यापति सुन बरजौवति
बंदह नंदकिसोरा।।

उक्त पद में ध्यान देने की बात है स्तुति में वर्णित शृंगारिक चेष्टाएँ। शृंगारी कवि बिहारी ने अपनी 'बिहारी-सतसई' का आरंभ राधा की वंदना से ही किया है—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परे, स्याम हरित द्युति होइ।।

किंतु कृष्ण-भक्त सूरदास की रचना में यह बात नहीं पायी जाती। उन्होंने श्रीकृष्ण और राधिका को श्रीवल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग के उपास्य देव के रूप में ही गृहीत किया है। अतः यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि विद्यापति के राधा-कृष्ण पुष्टिमार्ग के या भक्ति के देवता हैं। पर इसके कारण "विद्यापति का कृष्ण-काव्य सूरदास का या अन्य कृष्ण-भक्त कवियों का कृष्ण-काव्य नहीं है। यह यदि भक्तिकाव्य माना भी जा सकता है तो वैसा ही जैसा बिहारी का, देव का, पद्माकर का था।"[1] विद्यापति को महात्मा सूर की श्रेणी में बैठाने के प्रयासी प्रश्न करते हैं—"सूर आदि भक्तों के शृंगारी पद लीला-कीर्तन होने के कारण भक्ति के अंतर्गत परिगणित हो सकते हैं, तो विद्यापति के शृंगारी पद क्यों नहीं ?" इसका सीधा उत्तर तो यही है कि सूर आदि के शृंगारी पद लीला-कीर्तन के हैं जब कि विद्यापति के पदों का संबंध लीला-कीर्तन से

---

१. दे० पीछे 'हिन्दी-साहित्य का आदिकवि', पृष्ठ ९।

नहीं है, केवल शृंगार से है। लीला-कीर्तन के अंतर्गत राधा-कृष्ण का शृंगार ही भर नहीं आता, उसके भीतर गोचारण, वंशीवादन इत्यादि न जाने कितनी बातें आती हैं जिनसे विद्यापति का कोई सरोकार नहीं है। सूर के 'गोलोक' में राधा-कृष्ण, दूती सखी ही भर नहीं हैं; वहाँ नंद हैं, यशोदा हैं, बलदेव हैं, सखा हैं, गोप हैं, गोपिकाएँ हैं, गाय-बछड़े हैं, कहाँ तक कहें पूरा लोक ही तो है। है इनमें से किसी का पता विद्यापति के लोक में ? यदि यह मान लें कि विद्यापति ने लीला के गौण अंश को छोड़कर सार अंश लिया है तो प्रश्न उठता है कि इस रहस्य को लखिमा के साथ रमण करनेवाले नागर शिवसिंह ही भर क्यों समझते हैं ? 'नागर' तो कामकला में ही दक्ष हो सकता है, हरिलीला का रस वह क्या जाने ? फिर यह भी प्रश्न उठ खड़ा होता है कि संयोग-शृंगार के पदों की भाँति विरह-गीत भी शिवसिंह को क्यों समर्पित नहीं किये गये हैं ? वहाँ विद्यापति बार-बार प्रिय-मिलन की आशा बँधाते क्यों नहीं थकते ? इसी लिए न कि वह वियोग लखिमा देवी का है; क्योंकि शिवसिंह बंदी होकर दिल्ली चले गये हैं ? सच बात यह है कि 'पदावली' का संयोग-वियोग शिवसिंह और लखिमा देवी को संलक्ष्य करके ही लिखा गया है—राधा-कृष्ण उपलक्षण मात्र हैं। विद्यापति के कृष्ण सूर के लीला-पुरुषोत्तम तो हैं ही नहीं, और चाहे जो हों। अस्तु, विद्यापति का शृंगार लौकिक शृंगार है, 'दिव्य शृंगार' नहीं; जब कि सूर का दिव्य शृंगार है, लौकिक नहीं। 'पदावली' में हरिस्मरण का आभास तक नहीं मिलता—न सीधे, न प्रकारांतर से। मधुकरी वृत्ति से जैसे आचार्य शुक्ल का आचार्यत्व नहीं छीना जा सकता वैसे ही विद्यापति को सूर आदि भक्तों के साथ स्थान नहीं दिलाया जा सकता। डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का मत भी यही है कि विद्यापति के काव्य का स्वरूप शृंगारी है, न कि आध्यात्मिक। उनका कहना है कि यदि इनकी पदावली को हम आध्यात्मिक मान लें तो चाहे एकाध पद की हम भले ही व्याख्या कर लें, पर सब पदों को अलौकिक पक्ष में नहीं घटित कर सकते। इसमें संदेह नहीं कि धर्म में ही शृंगार की भावना

हो सकती हैं। बहुत-से ऐसे कवि भी हो गये हैं जिन्होंने लिखा है कि सारी सृष्टि मन्मथ से ही उत्पन्न हुई है। पर 'पदावली' में ऐसी बातें बहुत कम हैं जो दाम्पत्य भाव से मन को हटाकर संयत मार्ग में लगायें।

बहुत से लोग तो इसलिए 'पदावली' को आध्यात्मिक कहने पर उद्यत हैं कि स्वयं चैतन्य महाप्रभु इनके पदों को तन्मयता से गाते थे और यह समझते थे कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से ही लिखी गयी है। पर भक्त महात्माओं की बात दूसरी है। उनके लिए राधा-कृष्ण का नाम और पदों की गेयता और माधुर्य ही पर्याप्त है। यहाँ तो हमें काव्य की दृष्टि से 'पदावली' की आध्यात्मिकता का विचार करना है। इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि कहीं-कहीं ऐसे प्रसंग भी आ गये हैं जो सुधारकों की दृष्टि से घोर श्रृंगार या अश्लील तक कहे जा सकते हैं। क्या ऐसे प्रसंगों को भी आध्यात्मिक ही माना जाय? श्रद्धेय आचार्य पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने इन्हें श्रृंगारी कवि ही माना है।[1] इस विवेचन से स्पष्ट है कि विद्यापति श्रृंगारी कवि थे। उनके पदों में आध्यात्मिक रंग चढ़ाना उनके काव्य के स्वरूप को विकृत करना है। अतः आगे उनके पदों का जो विवेचन किया जायगा वह शुद्ध श्रृंगार की दृष्टि से, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। अध्यात्म के प्रेमी हमें क्षमा करें।

विद्यापति को प्रेम का ही कवि कहना उचित जान पड़ता है। प्रेम का क्षेत्र बहुत विस्तृत माना गया है। कुछ लोगों ने प्रेम के कई विभाग भी कर दिये हैं। कविवर देव के मतानुसार प्रेम के पाँच प्रकार हैं—

"सानुराग सौहार्द अरु, भक्ति और वात्सल्य।
प्रेम पाँच विधि कहत हैं, अरु कार्पण्य वैकल्य॥"

देव ने तो प्रेम के पाँच ही स्वरूप दिखाये हैं। पर देश, काल और अवस्था के अनुसार देश-प्रेम आदि की भी वृद्धि हो सकती है। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि आचार्यों ने व्याप्ति के विचार से दाम्पत्य

१. दे० हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'विद्यापति'।

प्रेम को ही प्रधान स्थान दिया है। अन्य प्रकारों को रसावस्था तक पहुँचानेवाला स्थायी भाव नहीं माना है। यह वह प्रेम है जो अनेक परिस्थितियों में प्रवाहित होता है। यहाँ तक कि आगे चलकर सांसारिक प्रेम ही पारमार्थिक प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। सूर, कबीर तथा आधुनिक युग में कवीन्द्र रवीन्द्र तक ने श्रृंगार रस में आध्यात्मिक भावों को व्यक्त किया है। पर आजकल श्रृंगार रस का नाम लेते ही नाक-भौं सिकोड़ने का एक फैशन-सा चल पड़ा है। अगर बाजारू संगीत में गन्दगी है तो संगीत को ही गंदा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में संसार में जो कुछ दर्शनीय और सुंदर है, साथ ही पवित्र, उत्तम और उज्ज्वल है, जिसका काव्य में सरस और हृदयग्राही वर्णन-विकास अथवा प्रदर्शन होता है उसे ही श्रृंगार कहना चाहिए। 'साहित्य-दर्पण'कार का मत भी ऐसा ही है कि पर-स्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकाएँ, दक्षिण (अर्थात् एकमात्र अपनी विवाहिता पत्नी से ही अनुराग रखनेवाला) आदि नायक इस रस के आलंबन विभाव माने जाते हैं। अतः कुरुचिपूर्ण रचनाएँ रस नहीं, रसाभास की ही कोटि में आ सकती हैं। जिस रस का स्थायी भाव प्रेम है वह नाक-भौं सिकोड़ने की वस्तु नहीं। भारतेन्दुजी ने प्रेम की कितनी सुंदर परिभाषा की है—

"जाको लहि कछु लहन की चाह न चित में होय।
जयति जगत-पावन-करन प्रेम बरन यह दोय॥"

श्रृंगार रस की एक विशेषता और है जो उसे रसराज पदवी देने में सहायता पहुँचाती है। वह है उसका सुखात्मक और दुःखात्मक पक्ष जिसे क्रमशः शास्त्रों में संयोग और विप्रलंभ श्रृंगार के नाम से अभिहित किया गया है। श्रृंगार के इन्हीं दोनों पक्षों के कारण उसमें मनुष्य के हृदय की अधिक-से-अधिक वृत्तियों का समाहार हो जाता है। अन्य किसी रस में यह विशेषता नहीं पायी जाती। श्रृंगार के दोनों पक्षों में विद्यापति की रचनाएँ मार्मिक हुई हैं। सबसे पहले इनके संयोग पक्ष को लीजिए।

साहित्य की परंपरा का अवलोकन करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि संयोग-पक्ष में आलंबन के रूप-विधान की ओर कवियों की दृष्टि अधिक रहती है और विप्रलंभ में हृदय के भावों को अभिव्यक्त करने की ओर अधिक। विद्यापति की कविता देखने से इस बात का पक्का प्रमाण मिलता जाता है। संयोग पक्ष में श्रीकृष्ण की चेष्टाओं, मुद्राओं, व्यापारों आदि का सम्यक् विधान किया गया है और विप्रलंभ में श्रीकृष्ण तथा राधिका के हृदय की स्मृति, अभिलाषा, उद्वेग आदि को ही व्यक्त करने में वे लगे रहे हैं। संयोग में प्रिय सामने रहता है। इसलिए प्रेमी की वृत्ति बहिर्मुखी रहती है और वियोग में प्रिय के दर्शन का अभाव होने के कारण वृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। साहित्य-शास्त्रियों ने इसी बात का ध्यान करके संयोग पक्ष में आलंबन के अलंकारों—जिन्हें हिंदी के आचार्यों ने 'हाव' कहा है—का विधान किया है और वियोग में दस दशाओं का। विद्यापति की शृंगारी रचनाओं में सम्यक् रूपेण रूप-विधान ही नहीं है, वरन् उस रूप-विधान में रमण करानेवाले अप्रस्तुतों की भी सच्ची योजना पायी जाती है।

विद्यापति की इन रचनाओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात है उभय पक्ष की समरसता। राधिका के रूप का जैसा लयकारी प्रभाव श्रीकृष्ण के हृदय पर पड़ता हुआ दिखाया गया है वैसा ही श्रीकृष्ण के रूप का राधिका के हृदय पर। लक्षण-ग्रंथों में उदाहरणों की पूर्ति के लिए भले ही उभय पक्ष की समान वृत्ति के उदाहरण दिये गये हों, पर स्वच्छंद रचना करनेवाले संयोग पक्ष में नायिकाओं के हावों का ही अधिक वर्णन करते हैं और वियोग पक्ष में नायिकाओं की व्याकुलता के ही अधिकतर उदाहरण पाये जाते हैं। संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों में अलंकारों (चेष्टाओं) का उल्लेख करते हुए सभी अलंकारों को नायिकाओं के संबंध में ही चमत्कारक कहा गया है। केवल स्वभावज दस अलंकार नायक में भी चमत्कारक माने जाते हैं। इस संबंध में साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं—"पूर्वभावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि सम्भवन्ति। किंतु सर्वेऽ-

प्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति।" इसका तात्पर्य यही जान पड़ता है कि लक्ष्य-ग्रंथों में नायक-परक रूप-चेष्टाओं का वैसा व्यापक विधान नहीं हुआ। पर विद्यापति ने नायक और नायिका (श्री कृष्ण और राधिका) दोनों की मुद्राओं, कार्य-व्यापारों आदि का एक-सा वर्णन उपस्थित करके यह सिद्ध कर दिया है कि "सर्वेऽमी नायकाश्रितापि विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति"—नायकाश्रित सभी मुद्राओं के उदाहरण प्रस्तुत करना हमारा विषय नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि विद्यापति दोनों में भेद करके नहीं चले हैं। इनके उदाहरण आगे चलकर रूपवर्णन के प्रसंग में उद्धृत किये गये हैं। अतः यहाँ उनका उल्लेख अनावश्यक जान पड़ता है।

पहले कहा जा चुका है कि संयोग-शृंगार में रूप-वर्णन प्रधान हुआ करता है। इसके अंतर्गत नख-शिख तथा सुकुमारता आदि की व्यंजना करनेवाली रचनाएँ आती हैं। नख-शिख-वर्णन में रीति-ग्रंथों की मर्यादा इस प्रकार रही है कि लौकिक नायक या नायिका का वर्णन शिख से आरंभ करके नख पर समाप्त किया जाय और किसी देवता, दिव्य या दिव्यादिव्य व्यक्ति के अंगों का वर्णन नख से आरंभ कर शिख पर समाप्त किया जाय। पर सामान्य रूप से इन दोनों प्रकार के वर्णनों को नख-शिख ही कहते हैं, यद्यपि शुद्धता के विचार से पहले को शिख-नख और दूसरे को नख-शिख कहना चाहिए। विद्यापति में नख-शिख-वर्णन दोनों रूपों में पाया जाता है। इस वर्णन की विशेषता यह है कि आलंबन की मुद्राओं, चेष्टाओं आदि को कवि ऐसे रूप में सामने लाया है जिससे उनका अत्यंत लयकारी बिंब सामने उपस्थित हो जाता है। 'पदावली' में श्रीकृष्ण और राधिका दोनों के नख-शिख का वर्णन अनेक पदों में किया गया है। कहीं तो वह सामान्य वर्णन के रूप में आता है और कहीं रूपक की लपेट के साथ। अवसर-विशेष पर विद्यापति ने रूपकातिशयोक्ति द्वारा नख-शिख-वर्णन करते हुए चमत्कार दिखलाने का भी प्रयत्न किया है—

माधव, की कहब सुन्दरि रूपे
कतेक जतन बिहि आनि समारल
देखल नयन सरूपे
पल्लव-राज चरन-जुग सोभित
गति गजराज क भाने
कनक कदलि पर सिंह समारल
तापर मेरु समाने
मेरु उपर दुइ कमल फुलायल
नाल बिना रुचि पाई
मनिमय हार धार बहु सुरसरि
तओ नहि कमल सुखाई
अधर बिंब सन, दसन दाड़िम बिजु
रवि ससि उगथिक पासे
राहु दूर बस नियरो न आबथि
तें नहि करथि गरासे
सारंग नयन बयन पुनि सारंग
सारंग तसु समधाने
सारंग उपर उगल दस सारंग
केलि करथि मधुपाने ।*

....

---

* यह वर्णन इनके परवर्ती सूरदासजी के प्रसिद्ध पद—'अद्भुत एक अनूपम बाग' से बहुत कुछ मिल जाता है—
'अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगुल कमल पर गजवर क्रीड़त ता पर सिंह करत अनुराग ।
हरि पर सरवर सर पर गिरवर गिर पर फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोत बसे ताए पर ता ऊपर अमृत फल लाग ।
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक पिक मृगमद काग ।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर ता ऊपर इक मणिधर नाग ।"

इसी स्थान पर रूप-चित्रण की पद्धतियों पर भी विचार कर लेना चाहिए। कवियों की आलोचना करते हुए प्रायः यह कहा जाता है कि उसने अमुक दृश्य का चित्र खींच दिया। उसका तात्पर्य यह नहीं हुआ करता कि किसी चित्र में जो आकार दिखाई पड़ता है उसकी सारी सामग्री कवि के शब्द-चित्र में पायी जाती है। कवि अपने शब्दों द्वारा संकेत करता है और जिस दृश्य को वह सामने लाना चाहता है उस दृश्य का सबसे अधिक प्रभावोत्पादक अंग लेकर अपनी कविता में रख देता है। जैसे यदि किसी दुबले-पतले व्यक्ति का चित्र सामने लाना है तो कवि उसके एक-एक अंग का विस्तार के साथ वर्णन न करके केवल इतना ही कह देगा कि हड्डियों की एक ठठरी सामने खड़ी हो गयी। यदि किसी की निर्धनता या दरिद्रता का रूप सामने लाना है तो वह इस प्रकार कहेगा—

सीस पगा न झगा तन में नहिं
जाने को आहि बसे केहि ग्रामा
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु
पाय उपानह को नहिं सामा।

ठीक इसी प्रकार विद्यापति ने भी बिंब ग्रहण कराने के लिए शब्दों के संकेत से और शुद्ध व्यापार-वर्णन से काम लिया है—

आध बदन-ससि बिहसि देखाओलि
आध पीहलि निअ बाहु
किछु एक भाग बलाहक झाँपल
किछुक गरासल राहु।

इस उद्धरण में सबसे चमत्कार की बात यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से भाव, हाव, हेला तीनों का बड़ी सुन्दरता से एक ही आलंबन में विधान कर दिया गया है।

चेष्टाओं के वर्णन में विद्यापति की विशेषता यह भी रही है कि

उन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यापार तक जाने की चेष्टा की है और उसे व्यक्त करने के लिए 'थोरा' या 'आध' शब्द का अधिकतर सहारा लिया है—

> आध आँचर खसि आध बदन हँसि
> आधहि नयन तरंग
> आध उरज हेरि आध आँचर भरि
> तब धरि दगधे अनंग

किसी का स्वरूप सामने लाने के लिए अधिकतर उसके मुखमंडल द्वारा व्यक्त होनेवाली चेष्टाओं या कार्य-व्यापार का वर्णन करने की आवश्यकता होती है। आश्रय के हृदय पर आलंबन के इसी अवयव का अत्यधिक प्रभाव भी देखा जाता है। फिर विद्यापति की राधिका के मुख का कहना ही क्या जिसे उस विधि ने बनाया ही नहीं जो सामान्य सृष्टि की रचना करता है। वह सामान्य उपादान से बना भी नहीं है। वह बना है 'चाँदसार' से। जगत की आह्लादकारिणी चन्द्रिका उस मुख का धोवन है, मैल है—

> चाँद सार लए मुख घटना करु
> लोचन चकित चकोरे
> अमिय धोय आँचर धनि पोछलि
> दह दिसि भेल उँजोरे
> कामिन कोने गढ़ली
> रूप सरूप मोहि कहइत असंभव
> लोचन लागि रहिली।

'चन्द्रसार' से बने इस मुख में दसों दिशाओं को आलोकित करनेवाली आभा ही भर नहीं है, उसमें कमल की प्रफुल्लता भी है, कोमलता भी है। वह सहज सुंदर है—सुंदरता उसका गुण है, धर्म है। इसमें हलकी काली रेखा (भौंह) है। नेत्र क्या हैं—कमल पर बैठे हुए दो भौंरे हैं—

मधुमस्त, पर पंख पसारे हुए कि जरा-सा आहट पाते आकाश से बातें करने लगें, जरा डैने हिला दें तो सुदूर गगन में पहुँच जायें—

सहजहि आनन सुन्दर रे
भौंह सुरेखलि आँखि।
पंकज मधु-पिबि मधुकर रे
उड़ए पसारल पाँखि।

कहना न होगा कि सघन बरौनियोंवाली पलकों के लिए परों से भरे डैनों की कल्पना जितनी ही पूर्ण है उतनी ही रमणीय भी। नेत्र-व्यापार का कहना ही क्या? कटाक्ष की इतनी सटीक व्यंजना ढूँढ़ने से ही मिलेगी। इन नेत्रों को यदि मदन ने अपने पाँच बाणों में से तीन तीनों लोकों में छोड़कर शेष दो रसिक जनों के हनने को नायिका को दे दिये तो आश्चर्य क्या?

तीन बान मदन तेजल तिन भुवने
अवधि रहल दओ बाने।
बिधि बड़ दारुन बधए रसिक जन
सौंपल तोहर नयाने।

शृंगार में आलंबन का रूप-विधान करनेवाले कवि मुखमंडल के अवयवों की चेष्टाओं का, और उनमें विशेष रूप से नेत्रों की चेष्टाओं का, वर्णन करते हैं। सूरदासजी के 'सूरसागर' में से यदि नेत्रों की उक्तियाँ चुनी जायँ तो हजारों की संख्या में निकलेंगी। 'बिहारी-सतसई' में भी नेत्रों पर अधिक उक्तियाँ मिलेंगी। कवियों की दृष्टि नेत्र-व्यापार का वर्णन करने में अधिकतर ऐसी लग जाया करती है कि वे आलंबन के अन्य अंगों, अन्य चेष्टाओं पर प्रायः ध्यान नहीं रखते। पर विद्यापति ने नयनोक्ति की बहुलता रखते हुए भी अन्य अंगों की चेष्टाओं का भी उसी परिमाण में विधान किया है। इनकी 'पदावली' में बाहु, कमर, चरण आदि के कार्य-व्यापार भी उसी सहृदयता के साथ वर्णित हैं जिस सहृद-

प्रता से इन्होंने नेत्रों का वर्णन किया है। फलतः विद्यापति की राधा अपूर्व सुंदरी है— प्रकृति में जो कुछ कोमल, शुभ्र, सरस, सुंदर, रमणीय और दर्शनीय है वह सब राधिका के अनुपम अंगों के सौंदर्य का प्रतिबिंब मात्र है—

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई। तहिं तहिं सरोरुह झरई।
जहाँ जहाँ झलकत अंग। तहिं तहिं बिजुरि तरंग।
जहाँ जहाँ नयन बिकास। तहिं तहिं कमल प्रकास।
जहाँ लघु हास संचार। तहि तहि अमिय बिकार।
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख। ततहिं मदन सर लाख।

नख-शिख में केवल अंगों का ही वर्णन नहीं होता, शरीर के आभूषण, कंचुकी तथा अन्य शृंगारों का भी वर्णन आता है। विद्यापति ने इन सभी को एकत्र किया है, चाहे वे थोड़े ही हों। यह सब विभाव-पक्ष के आलंबन के अंतर्गत आता है। यहाँ पर एक ही उदाहरण से इस विषय की पुष्टि हो जायगी—

चंदन चरचु पयोधर रे
गिम गज-मुकुता-हार
भसम भरल जनि संकर रे
सिर सुरसरि-जल-धार।

यहाँ तक तो नायिका के रूप-वर्णन के कुछ उदाहरण दिये गये। परंतु विद्यापति की विशेषता के संबंध में पहले ही कहा जा चुका है कि ये नायक की चेष्टाओं का भी वैसा ही वर्णन करते हैं जैसा नायिका की चेष्टा का। नायिका के यौवनागम की भाँति इन्होंने नायक के यौवनागम का भी वर्णन किया है। नायक पूर्ण युवा हो चला है। उसका प्रत्येक अंग सुंदर और सुडौल हो गया। उसे देख नायिका के हृदय में दर्शनजन्य प्रेम उत्पन्न होता है और वह नायक में अपूर्व सौंदर्य पाती है—ऐसा

सौंदर्य जो स्वप्नलोक का प्रतीत होता है। उसे देखकर उसे सुधि-बुधि नहीं रह जाती। वह अपनी सखी से कहती है—

ए सखी पेखलि एक अपरूप
सुनइत मानबि सपन-सरूप
कमल जुगल पर चाँद क माला
तापर उपजल तरुन तमाला
तापर बेढ़लि बिजुरी-लता
कालिन्दी-तट धीरे चलि जाता
साखा-सिखर सुधाकर पाँति
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति
बिमल बिंबफल जुगल बिकास
तापर कीर थीर करु बास
तापर चंचल खंजन-जोर
तापर साँपिनि झाँपल मोर
ए सखि-रंगिनि कहल निसान
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, रूप-वर्णन के अंतर्गत नख-शिख और हाव दोनों आते हैं। नख-शिख पर पर्याप्त विवेचन हो चुका। अतः अब 'हाव' पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। संस्कृत के प्राचीन रीति-शास्त्रों में नायक-नायिकाओं के अलंकारों के नाम से जिस शोभा और चेष्टा आदि के वर्णन की पद्धति स्वीकृत की गयी है उसमें केवल बाह्य सौंदर्य का अंकन ही मुख्य नहीं है। हृदय के सौंदर्य के साथ-साथ बाह्य सौंदर्य प्रदर्शित करने की रुचि भी गृहीत हुई है। किंतु हिंदीवालों ने भानुभट्ट की 'रसतरंगिणी' का अनुकरण कर कुछ बाह्य चेष्टाओं को ही 'हाव' के नाम से गृहीत किया है। इस प्रसंग में 'हाव' का नाम लेने से हमारा तात्पर्य हिंदी रीति-ग्रंथों में माने जानेवाले परिमित हावों से ही

नहीं हैं, उन अलंकारों से भी है जिनका उल्लेख संस्कृत के रीति-ग्रंथों में पाया जाता है।

इसे और स्पष्ट करने के लिए संस्कृत-ग्रंथों में वर्णित अलंकारों का स्वरूप जान लेने की आवश्यकता है। यौवनावस्था में नायक या नायिकाओं में कुछ विशेष चेष्टाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें 'अलंकार' कहते हैं। यद्यपि नायक और नायिका दोनों में इसकी उद्भावना होती है, किंतु स्त्रियों में इसकी विशेष शोभा होने के कारण काव्य-ग्रंथों में उन्हीं का वर्णन किया जाता है। ये अलंकार तीन प्रकार के होते हैं—अंगज, अयत्नज और स्वभावज। अंगज अलंकारों के तीन भेद हैं—भाव, हाव और हेला। अयत्नज अलंकार सात होते हैं—शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य। स्वभावज अलंकार अठारह होते हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, विब्बोक, किलकिंचित, मोट्टाइत, कुट्टमित, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इन अठारहों में से आरंभ के दस अलंकारों को हिंदीवाले हाव कहते हैं। किंतु संस्कृत ग्रंथों के अनुसार यह स्पष्ट है कि 'हाव' अंगज अलंकार होने के कारण इन दस स्वभावज अलंकारों से भिन्न है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में स्त्रियों के स्वभावज अलंकार केवल ये ही दस गिनाये गये हैं। इसी परंपरा के आधार पर रसतरंगिणीकार भानुभट्ट ने उन्हें हाव कहकर घोषित किया है। हाव का लक्षण उन्होंने स्त्रियों की शृंगार-चेष्टा माना है—'नारीणां शृंगारचेष्टा हावः।' किंतु साहित्य-दर्पणकार के अनुसार भाव, हाव तथा हेला की परिभाषा यह है—जन्म से निर्विकार चित्त में जो सबसे पहले विकार हो उसे भाव कहते हैं। भौंह अथवा नेत्रादि के विकार द्वारा संभोग-विलास को अल्प रूप में व्यक्त करनेवाले विकार को हाव कहते हैं। मनोविकार जब स्पष्ट रूप में हो जाय तब उसे हेला कहते हैं। इसीलिए भरत मुनि ने लिखा है कि भाव, हाव तथा हेला क्रमशः एक दूसरे से होते हुए अंगज अलंकार हैं। सत्त्व से भाव, भाव से हाव और हाव से हेला, यही उनका क्रम है। विद्यापति की पदावली

में हावों का सच्चा विधान दिखाई पड़ता है। कुछ उदाहरण लीजिए—

अति थिर नयन अथिर किछु भेल
उरज-उदय-थल लालिम देल
चंचल चरन, चित चंचल भान
जागल मनसिज मुदित नयान

'अंगज हाव' के साथ नायिका की 'शोभा' (अयत्नज) देखिये—

चाँद-सार लए मुख घटना करु
लोचन चकित चकोरे
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि
दह दिसि भेल उँजोरे
कामिनि कोने गढ़ली
रूप सरुप मोयँ कहइत असँभव
लोचन लागि रहली
गुरु नितंब भरे चलए न पारए
माझ-खानि खीनि निमाई
भागि जाइत मनसिज धरि राखल
त्रिबलि-लता अरुझाई
भनइ विद्यापति अद्भुत कौतुक
ई सब बचन सरूपे
रूपनरायन ई रस जानथि
सिवसिंघ मिथिला भूपे।

इस 'शोभा' के साथ विब्बोक (स्वभावज) कैसा फबता है—

माधव दुर्जय मानिनि मानि
बिपरित चरित पेखि चकरित भेल
न पुछल आधहु बानि

तुअ रूप साम अखर नहि सूनए
तुअ रूप रिपु सम मानि
तुअ जन सयँ संभास न करई
कइसे मिलाएब आनि
नील बसन वर, काँचन चुरि कर
पौतिक माल उतारि
करि-रद चुरि कर मोति-माल वर
पहिरल अरुनिम सारि
असित चित्र उर पर छल, मेटल
मलयज देह लगाइ
मृगमद तिलक धोइ दृगंचल, कच
सयँ मुख लए छपाइ
एक नील छल चारु चिबुक पर
निंदि मधुप-सुत सामा
तृन-अग्रे करि मलयज रंजल
ताहि छपाओल रामा
जलधर देखि चंद्रातप झाँपल
सामरि सखि नहि पास
तमाल तरु घन चूना लेपल
सिखि पिक दूरि निवास
मधुकर डर बनि चंपक-तरु तल
लोचन जल भरि पूर
सामर चिकुर हेरि मुकुर पटकल
टूटि भए गेल सत चूर
तुअ गुन-ग्राम कहए सुक पंडित
सुनतहि उठल रोसाइ

पिंजर झटकि फटकि कर पटकत
धाए धएल तहि जाइ
मेरु सम मान सुमेरु कोप सम
देखि भेल रेनु समान
विद्यापति कह राहि मनावए
आपु सिधारह कान ।

जो राधा प्रेम विह्वलता-जन्य अधीरता और लज्जा के कारण काँटों से अपने पैरों को बचा तक न पाती थी[1] वही कृष्ण से रूठकर श्यामता से घृणा ही भर नहीं करती वरन् उसे संसार से ही दूर कर देना चाहती है—काली चूड़ियाँ तोड़ डालीं, काले गोदने और तिल को चंदन लगाकर दूर किया। कस्तूरी-तिलक और अंजन को धो बहाया। श्याम तमाल तरु को चूने से पोत दिया। पिक-मयूरों को खदेड़ बाहर किया। पर काले केश पर वश न चला। तब 'सास की रिस पतोहू पर उतारी'—जिस दर्पण से काले बाल दिखलाई पड़ें उसे ही चकनाचूर कर दिया। यह है विद्यापति की राधा का कोप जिसे जानकर सुमेरु भी रेणु-सा हो जाता है। कहने का सारांश यह कि विद्यापति ने जो हाव-विधान किया है वह सच्चा ही नहीं, पूर्ण भी है।

अंत में इस बात पर विचार कर लेना भी आवश्यक है कि चेष्टाएँ अनुभाव मानी जायँ या उद्दीपन? कहना न होगा कि दोनों अवस्थाओं में ये चेष्टाएँ ली जा सकती हैं; परंतु सब नहीं। विलास में प्रिय के मिलने पर भृकुटी-नेत्र पर यदि विकार उत्पन्न हों तो अनुभाव के अन्तर्गत होंगे। परंतु यदि इसी विलास की चेष्टाओं को देखकर नायक यह कहे कि नायिका में चेष्टाएँ (भ्रूभंग, नेत्रादि विकृत होना) हमारे मन को

१. की लगि कौतुक देखलौं सखि निमिष लोचन आध
मोर मन मृग मरम बेधल विषम बान बेआध
तीर तरंगिनि कदंब कानन निकट जमुना घाट
उलटि हेरइत उलट परलौं चरन चीरल काँट।

हरण करती हैं तो इस स्थान पर ये उद्दीपन होंगी। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के अलंकार के अंतर्गत रखने से ही यह सूचित होता है कि ये अनुभाव की अपेक्षा उद्दीपन अधिक हैं।

रूप-वर्णन के अनंतर कार्य द्वारा वर्णित वयःसंधि पर विचार करना भी आवश्यक है। कवि ने शृंगार-रस के विकास की प्रत्येक अवस्था का वर्णन किया है। बाल्यावस्था के समाप्त होने पर युवावस्था का आगमन होता है और तभी से शृंगार-रस का आधिपत्य प्रारंभ होता है। विद्यापति ने नायिका की वयःसंधि के वर्णन से आरंभ किया है और क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पूर्ण यौवन तक नायिका को पहुँचा दिया है। वयःसंधि के वर्णन में कवि की अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है। किस प्रकार नायिका के शरीर में बाल्यावस्था तथा यौवनावस्था का मेल होता है, उसके अंगों की किस प्रकार वृद्धि होती है और उसे दिन-दिन अनंग की पीड़ा का किस प्रकार अनुभव होने लगता है और वह किस प्रकार सखियों से काम-क्रीड़ा की वार्ता आरंभ कर देती है आदि बातें मार्मिकता से निम्नलिखित पद में व्यक्त की गयी हैं—

सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवन क पथ दुहु लोचन लेल
बचन क चातुरि लहु लहु हास
धरनिए चांद कएल परगास

मुकुर लई अब करई सिंगार
सखि पूछइ कइसे सुरत-बिहार
निरजन उरज हेरइ कत बेरि
हसइ से अपन पयोधर हेरि

पहिल बदरि-सम पुन नवरंग
दिन-दिन अनंग अगोरल अंग
माधव पेखल अपुरुब बाला
सैसव जौवन दुहु एक भेला

विद्यापति कह तुहु अगेआनि
दुहु एक जोग इइ के कह सयानि

शृंगार-रस का प्रवेश मात्र भी कितना मनोरंजक है ! वय:संधि के पूर्व भी तो शरीर पर किसी का आधिपत्य रहता है । वह भला किसी को कैसे अपने राज्य पर प्रभुत्व जमाने देगा ? बिना युद्ध के तो सुई की नोक के बराबर भूमि देना भी कौरवों को असह्य हो गया था, तब भला बाल्यावस्था अपना अधिकार सीधी तरह से कैसे छोड़ दे ? अत: शैशवावस्था और युवावस्था में विग्रह होता है और अंत में युवावस्था की विजय होती है । इसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

सैसव जौवन उपजल बाद
केओ न मानए जय-अवसाद
विद्यापति कौतुक बलिहारि
सैसव से तनु छोड़नहि पारि

बाला के शरीर में यौवन आ गया है, पर शैशव के चिह्न भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ जाते हैं । उसे अज्ञात है कि मैं अब युवावस्था को प्राप्त हो गयी हूँ—मुझे लड़कपन के खेलवाड़ों को छोड़ देना चाहिए । अत: वह धूल खेलने लगती है, पर युवावस्था का स्मरण होते ही सँभल जाती है । कहीं तो लड़कपन की भाँति खुलकर हंसती है और कहीं गंभीरता प्रदर्शित करने के लिए मुख के आगे कपड़ा लगा लेती है—

खने खन नयन कोन अनुसरई
खने खन बसन धूलि तनु भरई
खने खन बसन छुटा छुट हास
खने खन अधर आगे गहु बास

वय:संधि के अनंतर पूर्ण यौवन आ जाता है, यौवन-काल का वर्णन कवि ने बड़ी ही कुशलता से किया है । इसमें रूप है, रूपासक्ति है, प्रणय है, अभिसार है, कामकला है, कमोत्तेजक उपचार है, मान है और तज्जन्य

विविध परिस्थितियाँ हैं। यौवन की रंगस्थली है। 'श्रृंगार' की शायद ही ऐसी कोई बात हो जिसका सजीव वर्णन न हो। जैसा पहले कहा जा चुका है, विद्यापति ने नायक तथा नायिका दोनों पक्षों का वर्णन सम रूप से किया है।[1] रूप-वर्णन के प्रसंग में यह दिखलाया जा चुका है। रूपासक्ति भी दोनों पक्षों में समान है। माधव को राधा जैसे 'अपुरुब बाला' है, वैसे ही राधा के लिए कृष्ण 'अपरूप' और 'सपन-सरूप' हैं। यह रूप जैसे राधा में 'जड़ता' ला देता है—उसे सब स्वप्न-सा प्रतीत होने लगता है—वैसे ही राधा के रूप से कृष्ण के 'लोचन बेकल' होते हैं और 'चरणजावक' 'हृदयपावक' होकर सब अंग दहकाने लगता है। देखिये—

बोलि कामिनी गजइ गामिनि
बिहसि पलटि निहारि
इन्द्रजालक कुसुम-सायक
कुहकि भेल बर नारि
जोरि भुज जुग मोरि बेढ़ल
ततहि बदन सुछंद
दाम-चंपक काम पूजल
जइसे सारद चंद
उरहि अंचल झाँप चंचल
आध पयोधर हेरु
पौन पराभव सरद-घन जनि
बेकत कएल सुमेरु
पुनहि दरसन जीव जुड़ाएब
टूटत बिरह क ओर
चरन जावक हृदय पावक
दहइ सब अंग मोर

---

1. उदाहरण के लिए कृ० दे० पृष्ठ ४१ और ४६ में उद्धृत पद।

भन विद्यापति सुनह जदुपति
चित्त थिर नहि होय
से जे रमनि चरम गुनमनि
पुनु कए मिलब तोय।[1]

इधर राधा ने 'आध लोचन' से एक निमिष कृष्ण का जो रूप देखा वह कौतुक-सा प्रतीत हुआ और उससे सुधि-बुधि जाती रही। वह ऐसी छटपटाने लगी जैसे बाण से बिधि हुई हरिणी—

की लगि कौतुक देखलों सखि निमिष लोचन आध
मोर मन मृग मरम बेधल बिषम बान बेआध।

और यह पीड़ा बढ़ती ही गयी। वह इसे न किसी से कह सकती और न उसे वह करस्पर्श ही सहज प्राप्य है जिससे घाव पूरना है। जैसे-जैसे दिन बीतते गये, पीड़ा बढ़ती हो गयी और यह दशा हो गयी कि उसे समझना दुष्कर हो गया—

लोटइ धरनि धरनि धर सोइ
खने खने साँस खने खन रोइ।
खने खन मुरछइ कंठ परान
इथि परक गति देव से जान।

फलतः मर्मस्पर्शी आह के रूप में उसके मुँह से निकल आता है—

पुर बाहर पथ करत गतागत
के नहि हेरत कान
तोहर कुसुम सर कतहुँ न संचर
हमर हृदय पंचबान।

'प्रेम कीर पीर' को प्रिय के समीप पहुँचाने के लिए कवि-परंपरा

---

१. नायिका का यह यौवन-वर्णन बहुत ही कार्य-व्यापार-संकुल (ड्रैमैटिक) है। आगे चलकर बिहारी ने भी ऐसे ही समाहृत व्यापार वर्णित किये हैं।

दूतियों द्वारा 'संघट्टन' की व्यवस्था के उपरांत 'नोक-झोंक' में 'नाहीन हाँ' वाली नवोढ़ा के हृदय की झाँकी दिखलाकर 'सखी-शिक्षा' के लिए अवकाश निकाला गया है। यहाँ से विद्यापति का कामशास्त्र खुल जाता है और ऐसी प्रगल्भ काम-क्रीड़ा प्रारंभ होती है जिसमें मर्यादा को कोई स्थान नहीं। कवि के शब्दों में सुनिये—

कहां नहि सुनिये एहन परकार
करए बिलास दीप लए जार।
परिजन सुन सुन तेजब निसास
लहु लहु रमह सखी जन पास।

सारा 'सखी-संभाषण' परिरंभण, चुंबन, नखक्षत, दंतक्षत, सुरतदान इत्यादि की चर्चा से भरा है। फिर क्या आश्चर्य यदि "जइसे डगमग नलिन के नीर, तइसे डगमग" शरीरवाली नवोढ़ा काम-क्रीड़ा में ऐसी कुशल हो जाती है कि उसे रसिक-शिरोमणि कृष्ण काम-कला में भोंदू प्रतीत होते हैं। वह अपनी सखी से सुरत-संबंधी अनुभव बतलाते हुए कहती है—

कि कहब हे सखि रातु क बात
मानिक पड़ल कुबानिक हात
कांच कंचन न जानए मूल
गुंजा रतन करए समतूल।
जे किछु कभु नहि कला रस जान
नीर खीर दुहु करए समान।
तन्हि सों कहां पिरीत रसाल
बानर-कंठ कि मोतिम माल।
भनइ विद्यापति इह रस जान
बानर मुंह की सोभए पान।

नायक-नायिका के 'मिलन' के अवसर पर उल्लास छलकता रहता

है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए हास-परिहास की योजना की जाती है। विद्यापति ने 'मिलन' में इसका विधान बड़ी सफ़ाई से किया है। कृष्ण ने राधे से 'सुरत' का प्रस्ताव किया। कुछ छेड़खानी की। इसपर राधे कहती हैं :—

सुन सुन नागर निबिबंध छोर
गाँठि ते नहि सुरत धन मोर।
सुरत क नाम सुनल हम आज
न जानिअ सुरत करए कौन काज।
सुरत क खोज करब जहाँ पाब
घर कि अछए नाहि सखि रे सुधाब
बेरि एक माधव सुन मझु बानी
सखि सयँ खोजि मांगि देब आनी।

अब 'अभिसार' देखिये। रात्रि है अमावस्या की। महीना है भाद्र का। सघन घन गरज रहे हैं और बिजली कड़क रही है। किन्तु राधा अपने मार्ग से विचलित होनेवाली नहीं। वह सर्पों के सिर पर नृत्य-सी करती हुई और सर्प-मणियों को हाथ से ढकती और अपने को अन्धकार में छिपाती हुई बढ़ती ही गयी—बढ़ती ही गयी जब तक अभिसार सफल न हुआ। इस प्रकार उसने 'भादव कुहु तिथि राति' को 'प्रेम हेम' की कसौटी बना डाला। वह जैसे 'मृग मद पंक' का अंगराग करके और 'दृढ़ कर तम सम चीर' पहनकर 'कृष्णाभिसारिका' बनती है* वैसे ही वह 'शुक्लाभिसारिका' बनना भी जानती है। चन्द्रधवलित रात्रि देखकर वह कहती है—

सखि हे, आज जाएब मोहि।
घर गुरुजन डर न मानब
बचन चूकब नहि।

---

* कृ० दे० बेनीपुरी की 'विद्यापति की पदावली' के पद १०८ और १०९।

चानन आनि आनि अंग लेपब
भूषन कए गजमोति ।
अंजन विहुन लोचन जुगुल
धरत धवल जोति ।
धवल बसन तनु झपाएब
गमन करब मंदा ।
जइओ सगर गगन अगत
सहस सहस चंदा ।
न हम काहुक डीठि निबारबि
न हम करब ओत ।
अधिक चोरी पर सयँ करिय
ए हे सिनेह क सोत ।

यह है पदावली की राधा, रसराज की रानी (यदि नायिका कहने में संकोच हो) । इसमें जो दृष्टि अल्हड़पन, रुदन में हास और हास में रुदन-मात्र देखती है वह एकांगी है, पूर्वाग्रहग्रस्त है और संकुचित है । ऐसी ही दृष्टि—

"हँसि-हँसि पहु आलिगन हेल
मनमथ अंकुर कुसुमित भेल
जब निबिबंध खसोओल कान
तोहर सपथ हम किछु जदि जान ।"

में सुरत-सुख की अनिर्वचनीयता या तल्लीनता न देखकर शालीनता देखती है । शालीनता तो तभी कही जायगी जब बहू-बेटियों से कहने-सुनने में संकोच न हो । क्या इन पंक्तियों को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ? शायद नहीं—भले ही वह हनुमान-चालीसा का पढ़नेवाला न होकर सिद्धों की सुरति में रमनेवाला हो ।

विद्यापति के जैसे अन्य प्रसंग वैसे ही उनका अभिसार-वर्णन भी

रूढ़िग्रस्त होते हुए भी अपनी विशेषता रखता है। इस अभिसार में ऐंद्रिक-सुख की कामना नहीं, उत्सर्ग की भावना है। इसमें 'स्व' प्रधान नहीं, 'पर' प्रधान है। अपने पर दृष्टि नहीं, प्रिय पर दृष्टि है। इसमें लेना कम, देना अधिक है। यह काम को प्रेम में बदल देता है और विलास को साधना बना देता है। राधिका अभिसार का कारण बतलाती हुई कहीं कहती हैं—

"बचन छड़इत मोहि लाज
होएत से होओ वह सब हम अंगीकार
अइस मन देल आज।"

कहीं कहती हैं—

"सखि हे आज जाएब मोहि
घर गुरुजन डर न मानब
बचन चूकब नहिं।"

उसका सिद्धान्त है कि समागम तो एक ही क्षण का होता है, पर प्रेम यावज्जीवन चलता है—

एहि संसार सार वथु एक
तिला एक संगम जाव जिव नेह।

इसलिए अभीष्ट की पूर्ति वही कर सकता है जो गुरुजन-परिजन की परवा नहीं करता, साहस से काम लेता है—

गुरुजन परिजन डर कर दूर
बिनु साहस अभिमत नहि पूर।

अस्तु, स्पष्ट है कि विद्यापति के अभिसार-वर्णन में काम-क्रीड़ा की विलासिता-मात्र नहीं, उसमें प्रेम की विशदता भी है। उसमें परंपरा-पालन मात्र नहीं, नवीनता और मौलिकता भी है।

जैसे कामिनी की तल्लीनता, सज-धज इत्यादि पुरुषों के आनन्द के विषय हैं वैसे ही उसकी विह्वलता, अस्तव्यस्तता इत्यादि भी। इसलिए

कवियों का जैसा वाणी-विलास 'सुरत-वर्णन' में पाया जाता है वैसा ही कल्पना-विलास 'सुरतांत'-वर्णन में भी। विद्यापति ने 'छलना' की योजना करके 'सुरतांत' की सुंदर व्यंजना तो की ही है, साथ ही 'गुरुजनभीता', 'भूतगुप्ता', 'वचनविदग्धा' इत्यादि का अनुरंजनकारी निरूपण भी किया है। राधा की वचन-विदग्धता में विद्यापति का कुछ अपना होते हुए भी अधिकतर परंपरा की छाप है। हाँ, जो रुदन में हास और हास में रुदन देखने के अभ्यासी हैं वे यहाँ भी कुछ मसाला पा सकते हैं। यहाँ पर एक ही उदाहरण से इस विषय की पुष्टि हो जायगी—

ननदो सरूप निरूपह होसे
बिनु बिचार बेभिचार बुझओवह
सासू करतन्हि रोसे।
कौतुक कमल नाल सयँ तोरल
करए चाहल अवतंसे।
रोष कोष सयँ मधुकर आओल
तेंहि अधर करु दंसे।
सरवर - घाट बाट कंटकतरु
देखहि न पारल आगू।
साँकरि बाट उबटि कहुँ चललहु
ते कुच कंटक लागू।
गरुअ कुंभ सिर थिर नहि थाकए
तें उधसल केस-पास।
सखि जन सयँ हम पाछे पड़लिहुँ
तें भेल दीघ निसास।
पथ अपवाद पिसुन परचारल
तथिहु उतर हम देला।
अमरख चाहि धैरज नहि रहले
ते गदगद सर भेला।

श्रृंगार एक ऐसा रस है जिसमें उद्दीपन विभाव केवल आलंबन की चेष्टाओं के रूप में न आकर बाह्य रूप में भी आता है; अर्थात् चंद्रमा, चाँदनी, शीतल मंद सुगंध पवन, नदी-तट आदि भी। विद्यापति ने जिस प्रकार चेष्टाओं का विधान किया है उसी प्रकार बाह्य उद्दीपनों का भी। यमुना-तट, उपवन आदि से इनके पद भरे पड़े हैं। उद्दीपन के इस द्विविध विधान की दृष्टि से कह सकते हैं कि विद्यापति ने विभाव-पक्ष की अच्छी योजना की है। केवल संयोग-पक्ष में ही नहीं, वियोग-पक्ष में भी ये ही उद्दीपन विभाव को उद्दीप्त करते हुए दिखाई देते हैं।

उद्दीपन विभाव के ही अंतर्गत इनका प्रकृति-वर्णन भी आता है। इनके वसंत और वर्षा-ऋतु के वर्णन अधिकतर स्वच्छंद न होकर श्रृंगार के उद्दीपन के रूप में ही हैं। पर कहीं-कहीं स्वच्छंद वर्णन भी किसी चमत्कार को लेकर किया गया है, जैसे वसंतोत्पत्ति का विस्तृत वर्णन। इसमें ऋतुराज का स्वच्छंद वर्णन करते हुए कवि ने उत्पत्ति से लेकर उसकी राज्य-प्राप्ति तक का वृत्तांत बड़ी चतुरता के साथ मधुर शब्दों में किया है।

माघ शुक्ला पंचमी ९ महीने ५ दिन (ज्येष्ठ से माघ पंचमी तक) में पूर्णगर्भा होकर सोलह अंगों और बत्तीस लक्षणों से युक्त बालक वसंत को जन्म देती है।

माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि
नवम मास पंचम हरुआई

× × ×

सुभ खन बेरा सुकुल पक्ख हे
दिनकर उदित समाई
सोरह संपुन बतिस लखन सह
जनम लेल रितुराई हे।

१. विशेष देखिए पीछे 'हाव' के प्रसंग में।

जन्म के उपरांत मंगलोत्सव होना चाहिए और संस्कार भी। अस्तु, वह भी देखिए—

नाचए जुबतिजना हरखित मन
जनमल बाल मधाई हे।
मधुर महारस मंगल गावए
मानिनि मान उड़ाई हे

× × ×

मधु लए मधुकर-बालक बएहलु
कमल पंखरी लाई।
चओनार तोरि सूत बाँधल कटि
केसर कएलि बघनाई।

× × ×

नव नव पल्लव सेज ओछाओल
सिर देल कदंब क माला
बैसलि भमरी हरदउ गाबए
चक्का चंद निहारा।

बाल वसंत धीरे-धीरे तरुण होता है और ऋतुराज बनता है। सभी उसका सम्मान करते हैं—

बाल बसंत तरुन भए धाओल
बढ़ए सकल संसारा
दखिन पवन घन अंग उगारए
किसलय कुसुम परागे
सुललित हार मजरि घन कज्जल
अखितौं अंजन लागे।

जैसे ही वह वनस्थली में प्रवेश करता है कि चारों ओर चहल-पहल मच जाती है। सब सम्मान का साज-बाज लेकर दौड़ पड़ते हैं। भौंरे

माधवी-मार्ग ग्रहण करते हैं, पीठल अपने कोपलों का सिंहासन देता है। नव चंपा ने स्वर्णछत्र ताना, आम्रमंजरी ने किरीट पहनाया, कोयल पंचम स्वर से गा उठा, भौंरे बाजा बजाने लगे, मोर नाचने लगे, द्विज (पक्षी) आशीर्वादात्मक श्लोक पढ़ने लगे। पुष्प-पराग चँदोवा बन उड़ने लगा।

आएल रितुपति राज बसंत
धाओल अलिकुल माधविपंथ
× × ×
नृप आसन नव पीठल पात
काँचन कुसुम छत्र धरु माथ
मौली रसाल मुकुल भेल ताय
समुखहि कोकिल पञ्चम गाय
सिखिकुल नाचत अलिकुल यंत्र
द्विजकुल आन पढ़ आसिख मंत्र
चंद्रातप उड़े कुसुम पराग
मलय पवन सह भेल अनुराग।

वसन्त ऋतुराज तो बन गया। उसका ठाठ-बाट तो ठीक हो गया, पर पराक्रम बिना राजा कैसा ? तो उसका पराक्रम भी देखिये—

सैन साजल मधु-मखि-काकूल
सिसिरक सबहुँ कएल निरमूल
उधारल सरसिज पाओल प्रान
निज नव दल कर आसन दान।

यों तो वसंत सदा से कवियों का प्रिय विषय रहा है और अनेक कवियों ने बड़े सुन्दर-सुन्दर रूपक भी लिखे हैं, पर इतना विशद सांग रूपक हिंदी-साहित्य में ढूँढ़ने से ही मिलेगा। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार से विद्यापति ने वसंत का वर्णन किया है। इन सबके देखने से स्पष्ट लक्षित

होता है कि वसंत का वैभव विद्यापति को उल्लास से भर देता था कि उनका हृदय नाचने लगता था और उनके मुख से अनायास निकल आता था—

नाचहु रे तरुनी तजहु लाज
आयल बसंत रितु बनिकराज
हस्तिनि, चित्रिन, पद्मिनि नारि
गोरी सामरि एक बूढ़ि बारि।

वसंत के अतिरिक्त उन्होंने वियोग की दशा में अन्य ऋतुओं की भी चर्चा की है। इतना होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि विद्यापति ने प्रकृति के नाना रम्य तथा भव्य रूपों और व्यापारों को उनके मूल रूप में नहीं देखा है। यह उन्हें अभीष्ट भी नहीं था। उन्होंने प्रकृति को भी मानवीय रूपों में ही देखा है और ऋतुओं का वर्णन श्रृंगार के उद्दीपन रूप में ही किया है। ये वर्णन बहुधा इस रूप में मिलते हैं—

चले देखए जाऊ रितु बसंत
जहाँ कुन्द-कुसुम केतकि हसंत
जहाँ चंदा निरमल भमर कार
जहाँ रयनि उजागर दिन अँधार
जहाँ मुगुधलि मानिनि करए मान
परिपंथिहि पेखए पंचबान
भनइ सरस कवि-कंठ-हार
मधुसूदन-राधा-वन-बिहार।

प्रकृति-वर्णन के संबंध में यह रूढ़ि चली आयी है कि प्रायः संयोग श्रृंगार में 'षड्ऋतु-वर्णन' होता है जब कि विप्रलंभ में 'बारहमासा' का। विद्यापति ने भी यही पद्धति अपनायी है। बारहमासा के रूप में जो ऋतुओं का उल्लेख हुआ है वह भी उद्दीपन के रूप में ही है। विद्यापति का बारहमासा पाठक का ध्यान ऋतुओं की नाना वस्तुओं की ओर न ले

जाकर बिरहिणी के विरह की ओर ले जाता है। उसमें वह सजीवता भी नहीं पायी जाती जो जायसी के बारहमासा में है।

यहाँ तक हुई संयोग शृंगार के विविध पक्षों की बात। इसके विवेचन से स्पष्ट है कि विद्यापति ने संयोग शृंगार की व्यंजना में कोई कसर नहीं रहने दी है। वह पूर्ण है, अपूर्व है। उसमें उनकी अद्भुत गति है। यद्यपि उसमें परंपरा की छाप बहुत स्पष्ट है तथापि उसमें बहुत कुछ उनका अपना है और वह ऐसा है जिसके कारण उनका संयोग शृंगार अनूठा हो गया है। काम और प्रेम का जो स्वरूप यहाँ मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

अब विद्यापति का विप्रलंभ शृंगार देखिये—

प्रेम के संबंध का यह प्राचीन प्रवाद कि वियोग में वह क्षीण हो जाता है, प्रवाद ही प्रवाद है। उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि प्रेम-वृत्ति की अभिव्यंजना करनेवाले कवि की सच्ची शक्ति का पता संयोग-पक्ष से नहीं, वियोग-पक्ष से चला करता है। जो कवि वियोग का सच्चा वर्णन कर सकने में समर्थ हो वही प्रेम का समर्थ कवि कहा जा सकता है। वास्तविक बात यह है कि प्रेम के संयोग-पक्ष में व्यक्ति अपने को चारों ओर से समेटकर एक स्थान में केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न करता है, किंतु वियोग में वह अपनी सिमटी हुई वृत्तियों को प्रसारित करता हुआ दिखाई देता है। यही कारण है कि कविता के लिए वियोग-पक्ष में जितना चौड़ा मैदान मिलता है उतना संयोग में नहीं। विद्यापति ने इस बात का ध्यान अपने वियोग-वर्णन में बराबर रखा है।

शास्त्रीय ग्रंथों में विप्रलंभ शृंगार के चार भेद किये गये हैं—पूर्व-राग, मान, प्रवास और करुण-विरह। पूर्वराग में मिलने की उत्कंठा मात्र रहती है। अतः उसमें वेदना का पूर्ण प्रदर्शन नहीं हो पाता। जैसा कि दूती-प्रकरण में दिखलाया जा चुका है, विद्यापति ने 'पूर्वराग' को संयोग शृंगार का उद्दीपन माना है और उसे वियोग शृंगार के अंतर्गत नहीं रखा है। इसलिए यहाँ उस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। मान में भी वेदना का उत्कृष्ट रूप नहीं आ सकता। प्रिय और प्रिया के एक ही

शय्या पर होते हुए भी वियोग कैसा ? यह तो वियोग का स्वांग है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि वियोग के लिए दूरी की उतनी अपेक्षा नहीं होती जितनी हृदय के अयोग की। वह अयोग किसी-न-किसी रूप में रहता ही है। एक ही स्थान पर बैठे हुए दो व्यक्तियों में मनमुटाव हो सकता है। शायद इसी लिए मान को भी वियोग का एक भेद माना गया है। पर मनमुटाव 'अमर्ष' के अंतर्गत आयेगा, विषाद के नहीं। आचार्यों ने मान का कारण ईर्ष्या और गर्व माना है।[1] इन दो में से एक भी विषाद का कारण नहीं हो सकता। फिर 'मान' शब्द से ही लक्षित होता है कि इसका संबंध आदर से है। जिस क्रोध से आदर मिलता है उसी को मान कहा जाता है। फिर वियोग और अयोग एक वस्तु हैं भी नहीं। इसलिए मान को वियोग के अंतर्गत रखना उचित नहीं प्रतीत होता। किंतु जैसे और सबने वैसे ही विद्यापति ने मान को विप्रलंभ के अंतर्गत ही रखा है और उसके बहुत से पद लिखे हैं। इनमें लघु, मध्यम और गुरु तीनों प्रकार के मानों का समावेश है। एक उदाहरण लीजिये —

एत दिन छलि नवरीति रे
जल मीन जेहन पिरीति रे।
एकहि बचन बीच भेल रे,
हँसि पहुँ उतरो न देल रे।
एकहि पलँग पर कान रे,
मोर लेख दूर देस भान रे।

× × ×

घरब योगिनिया के भेस रे।
करब में पहुँक उदेस रे।

---

१. इरसा गरब उदोत तें होत दंपतिहि मान।
गुरु लघु मध्यम सहित सो तीन भाँति को जान॥
—भिखारीदास

नायक-नायिका एक ही पलँग पर हैं फिर भी दोनों में वियोग की दशा उपस्थित है। विषाद इतना बढ़ा है कि नायिका योगिनी का रूप धरकर घर-बार छोड़ने को तैयार है और यह केवल इसलिए कि नायक ने उसकी बात का हँसकर उत्तर नहीं दिया है। भला विषाद की इस व्यंजना में किस पाठक का हृदय योग देगा? इसमें विषाद की चाहे जितनी ऊँची व्यंजना करायी जाय, पर वह खेलवाड़ ही प्रतीत होगी। पर इससे यह न समझना चाहिए कि विद्यापति का मान-वर्णन सर्वथा स्वांग ही है। वस्तुतः उन्होंने मान की विविध परिस्थितियाँ सामने लायी हैं जिनमें अधिकतर बहुत स्वाभाविक और सजीव हैं। एक उदाहरण लीजिये—

आध आध मुदित भेल दुहु लोचन
बचन बोलत आध आधे।
रति आलस सामर तनु झामर
हेरि पुरल मोर साधे।
माधव चल चल चल तन्हि ठाम।
जसु पद जावक हृदय क भूषन
अबहु जपत तसु नाम।
कत चंदन कत मृगमद कुंकुम
तुअ कपोल रहु लागि।
देखि सौति अनुरूप कएल बिहि
अतए मानिए बहु भागि।

प्रेमी हृदय की यह विशेषता होती है कि वह सर्वस्व दे सकता है, पर जिस प्रेम का वह अधिकारी होता है उसका किंचित् अंश भी दूसरे को देने के लिए तैयार नहीं रहता। इसके साथ ही वह अपने प्रिय को सुंदर-तम मानता है और समझता है कि इसी दृष्टि से उसे सारा संसार देखता है। परिणाम यह होता है कि उसने दूसरे को प्रिय से हँसते-बोलते भी देखा कि संदेह ने घर किया और वितंडावाद प्रारंभ हुआ। प्रेमी के

स्वभाव-भेद से वितंडावाद के स्वरूप में भी अंतर आ जाता है। ऊपर के पद में नायिका का कितना संयत मान है—बड़ी ललक से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही थी। पर तुम्हारा रूप-रंग देखकर सारी 'साध' पूरी हो गयी। इधर तो तुम प्रेम दिखला रहे हो, उधर तुम्हारी झुकी-झुकी पलकें, अलसाया हुआ चेहरा, छाती पर पैर का महावर, तुम्हारे कपोल पर लगा हुआ चंदन, कस्तूरी-कुंकुम क्या कह रहा है? यही न कि मेरा सोहाग किसी दूसरे को दे आये। खैर, मुझे संतोष है कि ब्रह्मा ने मुझे एक योग्य सौत दी है। तुम सुखी रहो, मैं अपने दिन काट लूँगी। इसपर कृष्ण कहते हैं—अरे तुम पागल हो गयी हो क्या, जरा अकल से काम लो, व्यर्थ में सिर पर दोष न मढ़ो। मैं रात भर 'पशुपति' के पूजन में रहा। मंत्र जपते-जपते ओठ सूख गये, रात भर सोया नहीं और तुम अर्थ का अनर्थ करने लगी—

सुन सुन सुन्दरि कर अवधान
बिनु अपराध कहसि काहे आन।
पुजलौं पसुपति जामिनि जागि
गमन बिलंब भेल तेहि लागि।
लागल मृगमद कुंकुम दाग
उचरइत मंत्र अधर नहि राग।
रजनि उजागर लोचन घोर
ताहि लागि तोहें मोहें बोलसि चोर।

नायिका अपना संदेह हटाने के लिए कहती है—'सपथ करह तब परतीत होय', इसपर कृष्ण कहते हैं—'अच्छा रानी, तुम क्रोध छोड़ो, मैं शपथ लेता हूँ, सोना छूकर' (सोना छूकर शपथ लेना प्रामाणिक माना जाता है)—

ए धनि माननि करह संजात।
तुअ कुच हेम घट हार भुजंगिनि
ताक उपर धर हाथ।

तोहे छाड़ि जदि हम परसब कोय
तुअ हार-नागिन काटब मोय।
हमर बचन यदि नहि परतीत
बुझि करह साति जे होय उचीत।
भुज-पास बाँधि जघन-तर तारि
पयोधर पाथर हिय दह भारि।
उर कारा बाँधि राखि दिन राति
विद्यापति कह उचित इह साति।

कृष्ण की इस विचित्र शपथ को, दंड-प्रस्ताव को, राधा पर पड़े हुए इसके प्रभाव को और उससे उत्पन्न वातावरण को विदग्ध पाठक ही समझ सकते हैं।

कभी-कभी मनमुटाव का रंग इससे भी हलका होता है। मन ही में राधिका मान करती हैं, उसी प्रकार कृष्ण उसका समाधान भी कर देते हैं—

राहि सुचेतनि कान्हु सयान
मनहि समाधल मन अभिमान।

पर कभी-कभी स्थिति बड़ी गंभीर हो जाती है। परस्पर समझौता नहीं हो पाता। तब मेल कराने के लिए सखियाँ आती हैं। राधा कुछ सुनना ही नहीं चाहती। साफ कह देती है—"सजनी दूर कर ओ पर-संग।" पर हृदय में आग लगी हुई है। फिर चुप कैसे रहे? इसलिए कहीं नारी-जीवन को कोसती है—

जनम होअए जनु, जौं पुनु होई
जुबती भए जनमए जनु कोई।
होइ जुबति जनु हो रसमति
रसओ बुझए जनु हो कुलमंति।

× × ×

मिलि सामी नागर रस धार
परबस जनु होए हमर पिआर।
होए परबस कुछ बुझए बिचारि
पाए बिचार हार कओन नारि

कहीं गिड़गिड़ाती है—क्या कहती हो सखी, कहीं टूटा हुआ प्रेम भी जुड़ता है ? जुड़ भी जाय तो क्या उसमें वह रस रह जाता है ?—

सजनी अपद न मोहि परबोध।
तोड़ि जोड़िअ जहाँ गाँठ पड़ए तहाँ
तेज तम परम बिरोध।
सलिल सनेह सहज थिक सीतल
ई जानए सब कोई।
से यदि तपत कए जतने जुड़ाइअ
तइ ओ विरत रस होई।
गेल सहज दे कि रिति उपजाइअ
कुल ससि नीली रंग।
अनुभवि पुनु अनुभवए अचेतन
पड़ए हुतास पतंग।

कहीं श्याम से चिढ़ने के कारण श्यामता पर अभिमान कर देती है[1] और फिर कभी ग्लानि से भरकर सोचती है कि मैंने मान कर अपनी ऐसी स्थिति कर ली है कि अब मृत्यु ही में कल्याण है—

लागल कुहित कएल हम मान
अबहु न निकसए कठिन परान।
रोस तिमिर अतबेरि किए जान
रतनक भै गेल गरिक मान।
नारि जनम हम न कएल भागि
मरन सरन भेल मान क लागि।

---

१. उदाहरण के लिए कृ० दे० पृष्ठ ४८-४९।

मान के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि विद्यापति का मान-वर्णन मार्मिक परिस्थितियाँ ही नहीं वरन् हृदय की विभिन्न स्थितियाँ भी सामने रखता है और साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है।

'करुण-विप्रलंभ' का वर्णन विद्यापति ने नहीं किया है। करुण-विप्रलंभ का जो लक्षण रीतिग्रंथों में मिलता है उसके अनुसार वह केवल शास्त्रकारों की भेद-प्रवृत्ति का सूचक जान पड़ता है। इस प्रकार विचार करने से 'प्रवास' ही वियोग का प्रधान भेद ठहरता है। इसी में वियोग की विभिन्न अवस्थाओं का निदर्शन करने का अवसर प्राप्त होता है। प्रवास-विरह में प्रेमी के हृदय में दो प्रकार की बातें उठा करती हैं। एक तो प्रिय के अभाव का दुःख और दूसरे प्रिय के दुःख का अनुमान करके उत्पन्न होनेवाला दुःख। विद्यापति ने पहले प्रकार की ही व्यंजना अपने पदों में दिखलायी है। गोपियों का विरह भी केवल अभाव का ही है। हाँ, आधुनिक काल में बा० मैथिलिशरणजी गुप्त ने 'साकेत' में उक्त दोनों प्रकार के दुखों की सुंदर अभिव्यंजना की है।

विद्यापति ने विरह-वर्णन में भी संयोग की भाँति उभय पक्षों का ध्यान रखा है। जिस प्रकार राधिका कृष्ण के वियोग में विह्वल होती हैं, उसी प्रकार कृष्ण भी राधिका के वियोग में विह्वल होते हैं। इसके अतिरिक्त ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति का वियोग-वर्णन ऊहात्मक पद्धति पर होते हुए भी बिहारी की भाँति हास्यास्पद नहीं हुआ है। इन्होंने विरह-वर्णन में वेदना की कोरी हाय-हाय नहीं दिखायी है। उसमें हृदय की अनुभूति है, वेदना है, व्याकुलता है, तल्लीनता है। यहाँ पर और एक बात का उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है। प्राचीन कवियों ने जिस प्रकार संयोग-पक्ष में षड्ऋतुओं का वर्णन किया है उसी प्रकार वियोग-पक्ष में भी। वियोग में कभी-कभी षड्ऋतुओं का वर्णन बारहमासे के रूप में भी आया करता है। विद्यापति ने 'बारहमासा' वाली पद्धति ग्रहण की है। वियोग के ही अंतर्गत दस काम-दशाओं का वर्णन भी

आता है, जिनके नाम ये हैं—अभिलाष, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। इन काम-दशाओं को भी विद्यापति ने नहीं छोड़ा है। इस प्रकार विद्यापति का वियोग-शृंगार भी शास्त्र से बँधा हुआ है। पर जैसे अन्यत्र वैसे ही यहाँ भी विद्यापति की अपनी विशेषता की छाप लगी हुई है। देखिये, कितने स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ढंग से वे उसका प्रारंभ करते हैं।

प्रेम की विभिन्न रंगरेलियों के बीच अचानक राधिका को प्रिय के विदेश जाने की बात ज्ञात होती है। स्वभावतः उसके तलवा-तले की जमीन निकल जाती है। वह विह्वल हो हतबुद्धि हो जाती है। इतना भी नहीं सोच पाती कि जब मेरा रूप, यौवन और प्रेम ही प्रिय को नहीं रोक पाते तब सखी का उपदेश काम न देगा। कातर हृदय यदि इतना ही सोच सके तो फिर डूबते समय तिनके का सहारा ही क्यों ले! अस्तु, वह सखी से कहती है—

सखि हे बालम जितब[1] बिदेस।
हम कुलकामिनि कहइत अनुचित।
तोहहुँ दे हुमि उपदेस।

जब इससे काम नहीं चलता तब वह स्वयं अपना हृदय खोलकर प्रिय के समक्ष रख देती है—

माधव तोहें जनु जाइ बिदेस।
हमरा रंग-रभस लए जएबह
लएबह कौन संदेस।
बनहि गमन कर होएत दोसर मति
बिसरि जाएब पति मोरा।

---

१. 'जितब' की व्यंजना द्रष्टव्य है। यह अपशकुन-निवारण का ही द्योतक नहीं, इसमें उस विह्वलता की भी व्यंजना है जिसके कारण 'आयें' कहते मुँह से 'बायें' निकल जाता है।

हीरा मनि मानिक एको नहि माँगब
फेरी माँगब पहु तोरा।

पर विवशता किसकी गरज सुनती है ? उधर राधे का प्रेमी मन इस अप्रिय सत्य को कैसे मान ले कि सर्वस्व देनेवाला सर्वस्व हर लेगा ? वह यही सोचती रह गयी कि कहने के लिए चाहे जो कहें किंतु कृष्ण मुझे छोड़कर जायँगे नहीं। पर जो होना था वह हो ही गया। माधव चले ही गये। माधव क्या गये, जीवन के रंग-रहस्य ही चले गये। बड़ा धोखा हुआ। अब वह जीकर ही क्या करे !

कालि कहल पिआ ए साँझहि रे
जाएब मोयँ मारुअ देस।

मोय अभागलि नहि जानलि रे
सँग जइतओं जोगिन बेस।

× × ×

सून सेज हिय सालए रे
पिया बिनु घर मोयँ आजि।

बिनती करओं सहलोलिन रे
मोहि देह अगिहर साजि।

घर और सेज ही में क्यों, सारे जीवन में तो रिक्तता छा गयी है। वस्तुएँ ही नहीं, उसे अपना यौवन भी व्यर्थ प्रतीत होता है। वह कहती है—

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज,
की सरसिज बिनु सूरे।

जौबन बिनु तन तन बिनु जौबन,
की जौबन पिय दूरे।

वास्तव में भारतीय स्त्री के लिए पति से बढ़कर संसार में दूसरा आकर्षण नहीं। महात्मा तुलसीदासजी तो पति के बिना पत्नी का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करते।[1]

---

१. मिलान कीजिये—जिय बिनु देह नदी बिनु बारी।
तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥

बेचारी राधा क्या करे ? प्राण भी नहीं निकलते। वे निकलना चाहते हैं, पर मिलने की आशा उन्हें फँसा लेती है—निकलने देती ही नहीं। आँखें परोक्ष प्रिय का अनुगमन करते-करते फूल गयी हैं—

लोचन धाए केधाएल
हरि नहि आएल रे
सिव सिव जिवओ न जाए
आस अरुझाएल रे।

यहाँ 'धाए केधाएल' में औत्सुक्य और विवशता के आधिक्य की, 'सिव सिव' में वेदना की अकथनीयता की और 'अरुझाएल' में छटपटाहट की विषमता की जो गूढ़ व्यंजना भरी है वह विद्यापति ऐसा भावुक कवि ही कर सकता है।

अवधि के दिन लिखते-लिखते नायिका की अंगुलियों के नाखून घिस गये हैं, प्रियतम का पथ देखते-देखते आँखें पथरा गयी हैं। इस दशा को देख-सुनकर तो पत्थर भी पसीज जाता पर राधिका का प्रियतम नहीं पसीजा, वह नहीं आया—

सखि मोर पिया
अबहु न आओल कुलिस हिया,
नखर खोआओलुँ दिवस लिखि लिखि
नयन अँधाओलुँ पिया-पथ देखि।[1]

इसके कारण उसके हृदय में विभिन्न भावों का मेला लगा रहता है। अनेक भावनाएँ उठ-उठकर विलीन होती रहती हैं। इन सबको लिये-दिये

---

१. मिलान कीजिए—

जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण।
ताण गणंतिए अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण ॥—हेमचंद्र

वह अपने दिन काटती रहती है और 'चौमासा' आ जाता है ।[1]

वियोग में सुखदायक वस्तुएँ भी दुःखदायक हो जाती हैं ।[2] विद्यापति की नायिका को वर्षा की बूँदें बाण-सी लगती हैं । वर्षा की सुहावनी रात्रि उसे भयंकर प्रतीत होती है ।

सखि हे हमर दुख क नहि ओर,
इ भर बादर माह भादर
सून मंदिर मोर,
झंपि घन गरजंति संतत
भुवन भरि बरसंतिया,
कंत पाहुन काम दारुन
सघन खर सर हंतिया ।

इस पद के द्वितीय चरण में कैसी स्वाभाविक व्यंजना है । दूसरे की संपन्नता से ही तो अपनी विपन्नता खलती है । फिर क्या आश्चर्य यदि भरे हुए बादलों को देखकर नायिका को अपने मंदिर का सूनापन दुःख दे ।

वर्षा ही क्यों, सभी ऋतुएँ तो ऐसे ही सताती हैं । तभी न परेशान होकर उसने शरद् को अपना एक-एक अंग सौंप दिया । शरीर भर रह गया, सो भी स्नेहवश—

सरद क ससधर मुखरुचि सोंपलक
हरिन के लोचन लीला ।

---

१. ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति ने 'बारहमासा' के साथ 'चौमासा' का भी वर्णन किया है । लोक-जीवन तक पहुँच रखनेवाले विद्यापति जानते थे कि दीनावस्था में सबसे अधिक खलनेवाला चौमासा ही होता है । फिर वे शास्त्र के चक्कर में पड़कर तथ्य की अवहेलना कैसे करते ? उनमें इस प्रकार की जागरूकता सर्वत्र दिखलाई देती है । यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है ।

२. जेइ-जेइ सुखद-दुखद अब तेइ-तेइ कवि मंडन बिछुरत जदुपत्ती ।—मंडन

केसपास लए चमरि के सोंपलक
पाए मनोभव पीला।
दसन दसा दालिम के सोंपलक
बंधु अधर रुचि देलो।
देह दसा सौदामिन सोंपलक
काजर सनि सखि भेलो।
भौहक-भंग अनंग चाप दिहु
कोकिल के दिहु बानी।
केवल देह नेह अछ लओले।
एतबा अएलहुं जानी।

दु:ख की घड़ी काटे नहीं कटती। यह ब्रह्मा की घड़ी से भी बड़ी हो जाती है। विरह-सागर में पड़े हुए व्यक्ति का समय कैसे कटता है इसे विरहिणी के शब्दों में सुनिये—

सजनी के कह आओब मधाई।
बिरह पयोधि पार किये पाओब,
मझु मन नहि पतिआई।
एखन तखन करि दिवस गमाओल
दिवस दिवस करि मासा,
मास-मास करि बरस गमाओल
छोड़लूँ जीवन-आसा।

विरह की परंपरा के अनुसार नायिका प्रियतम के पास 'पाती' (पत्र) भेजने का आयोजन करती है। पर पत्रिका ले जानेवाला कोई मिलता ही नहीं, कैसी विवशता है—

के पतिआ लए जाएत हे मोरा पियतम-पास,
हिय नहि सहए असह दुख हे भेल साओन मास।

और तब प्रेम में तल्लीन हो अपने को ही कृष्ण समझ लेती है। वह स्वयं माधव हो जाती है और राधा-राधा चिल्लाने लगती है। पर यह दशा बहुत नहीं टिकती और फिर कृष्ण के लिए व्याकुल हो उठती है—

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुनल बधाई।
माधव, अपरुब सोहर सिनेह।
अपने बिरह अपन तनु जर्जर
जिवइत भेल संदेह।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छल-छल लोचन पानि।
अनुखुन राधा-राधा रटइत
आधा-आधा बानि।
राधा सयँ जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा।
दासन प्रेम तबहि नहि टूटत
बाढ़त बिरह क बाधा।
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधइ
आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
कबि विद्यापति भान।

प्रेम-भाव की चरम सीमा आश्रय और आलंबन की एकता है, इसका इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? और कहाँ मिलेगा इतना मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक और मार्मिक 'विरहोन्माद' ?

विरहिणी नायिका की दशा स्थूल रूप में देख चुके। अब बिरही की

दशा देखिये। तभी न विद्यापति के उभय पक्ष ज्ञात होंगे। यों तो प्रायः वियोग की सारी व्यथा नायिकाओं के ही सिर मढ़ी जाती हैं। पर यहाँ श्रीकृष्णजी भी दुःखी हैं। संयोग के समय का स्मरण करके वे कहते हैं—

[1]तिल एक सयन ओतजिउ न सहए,
न रहए दुहु तनु भीन।
माँझे पुलक गिरि अंतर मानिए,
अइसन रहु निसि-दीन।
सजनी को न परि जीवए कान,
राहि रहल दुर हम मथुरापुर
एतहु सहए परान,
अइसन नगर अइसन नव नागरि
अइसन संपद मोर,
राधा बिनु सब बाधा मानिए
नयनन तेजिए नीर,
सोइ जमुना-जल सोइ रमनीगन
सुनइत चमकित चीत,
कह कबिसेखर अनुभबि जनलौं
बड़क बड़ई बिरीत।

जिसे रोमांच का व्यवधान तक सह्य नहीं था वह अनिश्चित अवधि के पहाड़ को कैसे पार करेगा, यह विचारणीय है। इसे विरही-हृदय ही समझ सकता है।

---

१. मिलाइए—

तब तौ छबि पीवत जीवत हे अब सोचनि लोचन जात जरे।
हित-पोष के पोषत प्रान पले बिलखात महा दुख दोष भरे।
घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख-साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे॥

—घनआनंद

ऊपर जो कुछ वियोग-वर्णन में लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि विद्यापति के प्रेम-वर्णन में ऊहात्मक पद्धति तथा गंभीर प्रेम की व्यंजना दोनों का योग है। पर आगे चलकर बिहारी ने जैसा तिल का ताड़ किया वैसा विद्यापति में कहीं नहीं मिलता। कहने का सारांश यह कि प्रेम के वियोग-पक्ष में हृदय की गूढ़ दशाओं को दिखलाने में विद्यापति को पूरी सफलता मिलती है।

प्रेम एक ऐसी भावना है जो अपने आश्रय की उदार वृत्ति की व्याप्ति बहुत अधिक कर देती है। इससे प्रेमी का हृदय इतना विशाल हो जाता है कि वह प्रिय के संबंध से अपने छोटे से हृदय में सर्वभूत और सर्वसृष्टि को समाहृत करने में समर्थ हो जाता है। इसी लिए उर्दू के भावुक कवि प्रिय के 'नक्शे-पा' (पदचिह्न) की धूल छानते फिरते हैं। बिहारी की नायिका 'उहै मरगजी माल' लिये फूली-फूली फिरती है और तुलसी के राम वृक्ष तथा लताओं से सीता का मार्ग पूछते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार सारी सृष्टि में ब्रह्म की सत्ता का आभास पानेवाले भक्तों और प्रेमियों में किसी प्रकार का अंतर नहीं रह जाता। प्रेमवृत्ति के कारण एक ओर तो हृदय की विशालता सारी सृष्टि में प्रिय का आभास पाती है और दूसरी ओर निरंतर प्रिय की अनुभूति के कारण प्रेमी को प्रिय-स्वरूप ही बना देती है। अतः प्रेमी भक्तों और ज्ञानियों दोनों की चरम कोटियों को छू लेता है। वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की तरह 'सर्वं खल्विदं प्रियः' की अनुभूति करता है और 'अहं ब्रह्मास्मि' तरह 'अहं प्रियोऽस्मि' तक भी पहुँच जाता है। प्रेम की सच्ची अनुभूति और परख रखनेवाले कवि नायक और नायिका की बँधी-बँधायी पद्धति पर ही प्रेम का वर्णन नहीं करते, वे उस वचन से आगे बढ़कर ऊपर कही हुई व्याप्ति तक पहुँचते हुए देखे जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि विद्यापति के अनुभूति-प्रवण हृदय ने इस व्याप्ति का भी स्थान-स्थान पर अभास दिया है।

भक्ति-भावना

भारतवर्ष में जब से पुराणों का प्रचार हुआ पंचदेवोपासना के रूप में सांप्रदायिक मतवाद धीरे-धीरे हट गया। पाँचों संप्रदायों में से गाणपत्य और भास्कर-संप्रदाय का प्रचार दक्षिण भारत में अब भी है। पर उत्तर भारत में अधिकतर तीन ही संप्रदाय दिखाई देते हैं—शैव, वैष्णव और शाक्त। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि विद्यापति शैव थे, पर उन्होंने वैष्णव और शाक्त संप्रदायों के प्रति कहीं भी अनुदारता नहीं दिखलायी है, प्रत्युत भक्ति के जिस उन्मेष में उन्होंने शिव की स्तुति की है, उसी उन्मेष में शक्ति और विष्णु के अवतार राधा तथा उनके प्रियतम कृष्ण की भी। यही नहीं, उन्होंने प्रत्यक्ष देव या देवी के रूप में मानी जानेवाली प्राकृतिक विभूतियों—जैसे सरस्वती, गंगा आदि—की भी वैसे ही आवेश में स्तुति की है।

मिथिला में प्रचलित 'उगना' वाली किंवदंती (जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है) से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि विद्यापति शैव थे। इसके अतिरिक्त यह भी दिखाया जा चुका है कि विद्यापति ने श्रीकृष्ण तथा राधिका का वर्णन शृंगार के अधिष्ठातृ-देव के रूप में ही किया है, भक्ति-भाव से प्रेरित होकर नहीं। अतः इनकी श्रीकृष्ण-राधा-विषयक कविता से इन्हें वैष्णव नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसी स्थान पर एक बात ध्यान देने की यह है कि बिहार के निवासियों में धार्मिक कट्टरता कम होती है। मिथिला के रहनेवाले अधिकतर शाक्त होते हैं, पर उनकी वृत्ति विष्णु और शिव के संबंध में उदार रहती है। इसे यों कह सकते हैं कि वे परंपरा या दीक्षा से तो शाक्त होते हैं, पर व्यवहार में स्मार्त। बिहार में ही नहीं, उसके पश्चिम अवध या उत्तरप्रदेश में भी ऐसी कट्टरता नहीं दिखाई देती। कहना चाहें तो कह सकते हैं उत्तरापथ में

पुराणों के प्रसार से इस प्रकार की कट्टरता का लोप हो गया है। महात्मा तुलसीदासजी भी इसके प्रमाण में रखे जा सकते हैं। वैष्णव होते हुए भी उन्होंने शिव-महिमा रामचरितमानस में गायी है। इसी प्रकार विद्यापति भी शैव होते हुए भी स्मार्त थे। वे अन्य उपास्य देवों को भी पूज्य बुद्धि से देखते थे। उनकी अनन्यता अन्य उपास्य देव के प्रति पूज्य बुद्धि की विरोधिनी नहीं थी।

कुछ लोगों का मत है कि विद्यापति शैव नहीं, शाक्त थे। इसके समर्थन में उनका कहना है कि शक्ति को जगति पालन जनन-मारण' तथा 'हरि बिरंचि महेस-शेखर चुंब्यमान पदे' कहकर सर्वश्रेष्ठ बताया है। भक्तवर तुलसीदासजी ने भी अपने उपास्यदेव राम को 'बिधि हरि संभु नचावनहारे' कहकर उन्हें सर्वोपरि बतलाया है। इतना ही नहीं, इस मत के माननेवाले अपने पक्ष-समर्थन में विद्यापति के 'पुरुष-परीक्षा' नामक ग्रंथ के इस मंगलाचरण को भी प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करते हैं—

ब्रह्मापि यामैति नुतः सुरेन्द्रैः
यामर्चितोप्यर्चयतीन्दुमौलिः।
यां ध्यायति ध्यानगतोपि विष्णु-
स्तामादिशक्ति शिरसा प्रपद्ये॥

इस पर यह प्रश्न खड़ा होता है कि यदि वे शाक्त थे तो शिव के भक्त कैसे हुए? इस प्रश्न के उत्तर में इस पक्ष के समर्थकों का कहना है कि शाक्त ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों की भक्ति करते हैं। आज भी मिथिला के शाक्त शालग्राम और शिव की पार्थिव मूर्ति घर-घर में रखते हैं। लाल रंग का जनेऊ पहननेवाले ब्राह्मण आज भी विभूति और चंदन के नीचे लाल रोली का निशान लगाते हैं। अतः विद्यापति भी शाक्त होते हुए शिव की भक्ति करते थे। पर इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति ने अपनी भिन्न-भिन्न रचनाओं में भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति की है और उनका प्रकार भी मिलता-जुलता ही है। यदि

मंगलाचरणों को लेकर उनके उपास्य देवों द्वारा संप्रदाय का निश्चय किया जायगा तो वे 'शिवसर्वस्वसार' के मंगलाचरण के अनुसार शैव, 'दुर्गाभक्तितरंगिणी' के अनुसार शाक्त और 'पदावली' के अनुसार वैष्णव जान पड़ेंगे। विभिन्न देवों की स्तुति करने के कारण कुछ लोग इन्हें पंचदेवोपासक भी मान बैठे हैं। पर यह मत भी तर्काश्रित नहीं। जैसा पहले दिखाया जा चुका है, मिथिलावाले इन्हें शैव ही मानते हैं, शाक्त नहीं। अंततः यही निष्कर्ष निकलता है कि ये शैव थे, पर अन्य देवों के प्रति भी उदार वृत्ति रखते थे। सूरदास की भाँति सांप्रदायिकता इनमें न थी। ये भक्तवर तुलसीदास की भाँति उदार थे। अतः इनकी सांप्रदायिक भक्ति का निर्णय करना समाप्त कर इनके भक्ति-संबंधी पदों पर विचार किया जाता है।

विद्यापति की रचना में शृंगारिक कविता की अधिकता है। इन्होंने अपना अधिकांश समय शृंगारिक कविता में ही लगाया है। अपनी ढलती अवस्था में कुछ रचना भक्ति के संबंध में अवश्य की है। इन्हें देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि इनकी रचना में इनके हृदय का वैसा योग नहीं था जैसा शृंगारिक रचना में पाया जाता है। जिस प्रकार शृंगारिक पदों का बँधान तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतर से तीव्रतम होता हुआ चलता है वैसी बात भक्ति-विषयक पदों में नहीं पायी जाती।

यहाँ तक कि स्तुति का भी वह विधान नहीं है जो भक्त कवियों में अपने आराध्य देव की रूप-प्रतिष्ठा के लिए रहा करता है। 'पदावली' में शंकर की स्तुति के लिए केवल एक पद है। उसमें भी रूप-विधान का वैसा प्रयास नहीं है। कवि की दृष्टि जितनी वैलक्षण्य की ओर है उतनी रूप की प्रतिष्ठा पर नहीं। देखिये न--

जय जय संकर जय त्रिपुरारि,
जय अधपुरुष जयति अधनारि
आध धवल तनु आधा गोरा,
आध सहज कुच आध कटोरा

आध हड़माल आध गजमोती,
आध चानन सोहे आध बिभूती
आध चेतन मति आध भोरा,
आध पटोर आध भुज डोरा
आध जोग आध भोग-बिलासा,
आध पिधान आध नग-बासा
आध पान आध सिंदुर सोभा,
आध बिरूप आध जग लोभा
भने कबि रतन बिधाता जाने
दुइ कए बाँटल एक पराने।

पर यह चमत्कारमूलक स्तुति इसलिए नहीं खटकती कि यह उन अर्द्धनारी-नटेश्वर की है जिनकी बरात भी देखकर देवताओं के वाहन सम्हाले नहीं सम्हले थे। परंपरा के अनुसार विद्यापति ने भी अपने आराध्य देव की लीला का वर्णन किया है, पर यहाँ भी उनकी वृत्ति नहीं जमी है। यहाँ भी चार-छः पदों से ही काम निकाला है। कुछ भी हो, पर इनकी महेश-वाणियों का समादर मिथिला में आज भी है। इन वाणियों को मिथिलावासी सदाचार के विचार से अपनी कन्याओं को सिखाते हैं जिससे वे शिव-गौरी की शुद्ध भक्ति को ग्रहण करें और स्वयं गौरीवत् आचरण सीखें। यदि ऐसा ही स्वरूप राधा-कृष्ण-विषयक पदों का होता तो लौकिक दृष्टि से बड़ा लाभ होता। महेश-वाणियों की जानकारी के लिए एक उदाहरण लीजिये—

कतए गेला मोर बुढ़वा जती
पीसल भाँग रहल सेइ गती
आन बिन निकहि रहथि मोर पती
आज लगाइ देल कौन उदमती
एकसर जोहए जाएब कौन गती
ठेसि खसब मोरि होत दुरगती

नंदनबन बिच मिलल महेस
गौरि हरखित मेल छुटल कलेस
भनइ विद्यापति सुनु हे सती
इहो जोगिया थिका त्रिभुवनपती।

भक्ति का निखरा हुआ रूप वहाँ दिखलाई पड़ता है जहाँ भक्त एक ओर तो अपने आराध्य देव के महत्त्व की और दूसरी ओर अपने लघुत्व की पूर्ण अनुभूति करने लगता है। यही वह स्थिति है जिसमें उसकी आत्मशुद्धि होती है। जब वह अपने उपास्य में अनन्त शक्ति का सामर्थ्य देखता है तब उसे अपनी दीनता और असमर्थता का ज्ञान होता है। उसके हृदय से अहंभाव दूर होता है। वह आत्मसमर्पण करता है। अपने दोषों को अपने उपास्य के सामने खोल-खोलकर गिनाता है। उसे जितना आनंद अपने उपास्य देव के महत्त्व-वर्णन में आता है उतना ही अपने दोष-वर्णन में भी। इस अवस्था के भी पद विद्यापति की 'पदावली' में पाये जाते हैं—

हरि जनि बिसरब मो ममिता
हम नर अधम परम पतिता
तुअ सन अधम उधार न दोसर
हम सन जग नहि पतिता
जम के द्वार जवाब कओन देब
जखन बुझत निज गुन कर बतिया
जब जम किंकर कोपि पठाएत
तखन के होत धरहरिया
भन विद्यापति सुकबि पुनित मति
संकर बिपरीत बानी
असरनसरन-चरन सिर नाओल
दया कर दिअ सुलपानी।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, शिव के भक्त होते हुए भी विद्यापति में अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी बड़ी उदार वृत्ति थी। उन्होंने राधा-कृष्ण तथा दुर्गा की स्तुति तो पदावली के प्रारंभ में ही की है। उसके अतिरिक्त उन्होंने गंगाजी की स्तुति गायी है। विष्णु, ब्रह्मा, जानकी इत्यादि की स्तुतियाँ भी बड़ी ही भावुकता से की हैं। विस्तार-भय से इनके उदाहरण नहीं दिये जा सकते। पर निम्नलिखित पद से उनके समन्वय-सिद्धांत का पता चल जायगा—

भल हर भल हरि भल तुअ कला
खन पित बसन खनहि बघछला
खन पंचानन खन भुजचारि
खन संकर खन देव मुरारि
खन गोकुल भए चराइअ गाय
खन भिखि मागिए डमरू बजाय
खन गोबिंद भए लिअ महादान
खनहि भसम भरु काँख वो कान
एक सरीर लेल दुइ बास
खन बैकुंठ खनहि कैलास
भनइ बिद्यापति बिपरीत बानि
ओ नारायन ओ सूलपानि।

कुछ पद ऐसे भी मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि इन्हें वृद्धावस्था में पूर्ण विरक्ति हो गयी थी—

तातल सैकत बारि-बिंदु सम
सुत मित रमनि समाज
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु
अब मझु हब कोन काज

माधव, हम परिनाम निरासा
तुहु जगतारन दीन दयामय
अतए तोहर बिसवासा
आध जनमु हम नींद गमायनु,
जरा सिसुकत दिन गेला।
निधुवनि रमन-रभस रँग मातनु,
तोहे भजब कोन बेला।

विद्यापति ने अपने उपास्य देव के अतिरिक्त अन्य देवताओं के प्रति जो उदार भावना दिखलायी है उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ये पहले कवि थे, बाद में भक्त। ये उन भक्त कवियों में न थे जो वैराग्य धारण कर भगवान् के गुणगान में ही लगे रहते हैं। ये पूर्णतः कवि थे और समय-समय पर भक्ति के उन्मेष में भी कुछ रचनाएँ कर दिया करते थे। वस्तुतः ये शृंगार की उसी अखंड परंपरा के कवि थे जिसमें आगे चलकर बिहारी, पद्माकर आदि शृंगारी कवि दिखाई पड़ते हैं। यही कारण हैं कि विद्यापति ने किसी संप्रदाय-विशेष का बखेड़ा न खड़ा कर थोड़ी-बहुत सभी देवी-देवताओं की स्तुति की है। अतः इस विषय में चक्कर में पड़ने की कोई बात नहीं।

अन्य विषय

विद्यापति का जीवन राज-दरबारों के बीच ही व्यतीत हुआ था। दरबारी कवियों को अपने आश्रय-दाता का विरुद भी गाना पड़ता है। उनके लिए राजाओं की वीरता, धीरता, दानशीलता, राज-दरबार की शोभा आदि का वर्णन करना आवश्यक-सा हो जाता है। फिर विद्यापति इस नियम के अपवाद कैसे हो सकते थे ? उन्होंने राजकीर्ति गाने के लिए ही 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' की रचना की है। 'कीर्तिलता' में महाराज कीर्तिसिंह की दानशीलता, वीरता तथा राजनीतिज्ञता के विशद वर्णन के साथ तत्कालीन रहन-सहन, लेन-देन, बात-व्यवहार, हाट-बाट का सजीव चित्रण है। नमूने में मदमत्त हाथी का वर्णन देखिए—

अणवरत हाथि मयमत्त जाथि
भागंते गाछ चापंते काछ
तोरंते बोल मारंते घोल
संगाम थेघ भूमिट्ठ मेघ
अंधार कूट दिगविजय छूट
ससरीर गब्ब देखंते भब्ब
चालंते काण पब्बअ समान

इन्होंने राजा शिवसिंह तथा उनकी पटरानी लखिमा देवी की भरपेट प्रशंसा की है। शिवसिंह की वीरता का वर्णन बड़े ही अच्छे ढंग से किया गया है। यवनों ने शिवसिंह पर धावा किया और शिवसिंह ने वीरता से उनका सामना किया। घमासान युद्ध हुआ—

दूर दुग्गम दमसि भंजेओ
गाढ़ गढ़ गढ़िय गंजेओ

पातसाह सलीम सीमा
समर दरसओ रे।

× × × ×

अंध कूअ कबंध लाइअ
फेरबी फफ्फरिस गाइअ
रुहिर मत्ति परेत भूत
बैताल बिछलिओ रे

× × × ×

देवसिंह नरेन्द्र नंदन
सत्रु नरवइ कुल निकंदन
सिंह सम सिवसिंह राया
सकुल गुनक निधान गनिओ रे।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि विद्यापति वस्तुतः कोमल भावों के ही कवि थे, उग्र भावों में उनकी वृत्ति रमती न थी। कविवर जयदेव की चलायी या जनता के बीच चली आती हुई जिस मधुर काव्य-रचना की परंपरा के मेल में वे दिखाई पड़ते हैं, उसकी रुचि के अनुकूल उग्र भाव पड़ते ही न थे। परिणाम यह हुआ है कि जब-जब केवल मुक्तक गीत लिखनेवाले उत्साह, क्रोध आदि की व्यंजना करने के लिए किसी विशेष कारण से प्रवृत्त भी हुए हैं तो उनमें वैसा ओज नहीं दिखाई पड़ता जैसा उन भावों के अनुकूल होना चाहिए। आगे चलकर भक्त सूरदासजी की भी यही दशा हुई है। श्रीकृष्ण के उग्र भावोंको उस धूमधाम के साथ व्यक्त करने में वे भी समर्थ नहीं हो सके हैं। विद्यापति के उपरिलिखित पद में दो-चार स्थानों पर द्वित्व अक्षरों को लिखकर ओज का काम निकालने का प्रयत्न लक्षित होता है। पर प्रयत्न प्रयत्न ही है। राजा शिवसिंह के युद्ध का ही वर्णन नहीं, उनकी रूप-प्रशंसा आदि के पद भी

पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन सब राजाओं की प्रशंसा में भी उन्होंने कविताएँ रची हैं जिन-जिन राजाओं के साथ वे रहे हैं—

शिवसिंह (**राजा सिवसिंह रूपनरायन सामसुन्दर काय**)
लक्ष्मणसेनसिंह — (**मिलु रति मदन समाजा**
देवल देवि लखन देवराजा)
राजा भोगेश्वर— (**राओ भोगीसर सब-गुन-आगर**
पदमादेह रमान रे)
और देवसिंह—(**देवसिंह नृप नागर रे**
हासिनो देई कंत)

आदि की प्रशंसा के पद मिलते हैं। राजाओं के अतिरिक्त राज-मंत्रियों की प्रशंसा में भी विद्यापति ने कुछ पद रचे हैं। इन प्रशस्तियों के विषय में यही समझना चाहिए कि विद्यापति ने शिष्टाचार के ही नाते इस प्रकार की प्रशस्तियाँ लिखी हैं। उनकी भट्टवृत्ति इससे प्रमाणित नहीं की जा सकती। ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि विद्यापति ने इन विरुद वर्णनों में केशवदासजी की भाँति व्यर्थ का चमत्कार-प्रदर्शन करके आश्रय-दाताओं को रिझानेवाला दरबारी रंग-ढंग नहीं रखा है। अतः इनकी ये उक्तियाँ अधिकतर संयत और प्रभावपूर्ण हुई हैं।

विद्यापति में चमत्कार विधायक युक्तियाँ भी पायी जाती हैं। इसके अंतर्गत उनके 'कूट-पद', प्रहेलिकाएँ आदि आती हैं। दृष्टकूटों की परंपरा बहुत पहले से चली आ रही है। संस्कृत कवियों की भी ऐसी फुटकल रचनाएं बहुत अधिक परिमाण में पायी जाती हैं। कहना न होगा कि ऐसी रचनाओं से भावोत्कर्ष का कोई संबंध नहीं। ये केवल कवि-कौशल दिखलाने के निमित्त होती हैं। विद्यापति की वृत्ति भी कभी-कभी कवि-कौशल दिखलाने की हो जाती थी और वे ऐसे पद रच दिया करते थे। शुद्ध साहित्य की दृष्टि से विचार करने पर इन्हें उच्च कोटि में नहीं रखा जा सकता। पंडितराज जगन्नाथ इस प्रकार की रचनाओं से बहुत चिढ़ते

थे। उन्होंने 'रसगंगाधर' में इन्हें अधमाधम काव्य कहा है और इन्हें काव्य के क्षेत्र से निकाल बाहर करने की संमति दी है। बात यह है कि कविता में वही उक्ति सुंदर मानी जा सकती है जो हृदय को स्पर्श करे। चमत्कार प्रदर्शित करनेवाली उक्तियों का संबंध हृदय से न होकर मस्तिष्क से होता है। यही कारण है कि दृष्टकूट, प्रहेलिका आदि चित्रकाव्य से साधारणीकरण में केवल बहुत बड़ा व्याघात ही नहीं होता, प्रत्युत ऐसी रचना करने की रुचि रखनेवाले और इन्हें चाव के साथ सुनने, समझने और बैठाने में प्रवृत्त होनेवाले अपना हृदय भी खो बैठते हैं। कारीगरी का कौशल दिखलानेवाले इस कर्म को इसी लिए शास्त्रकारों ने चौंसठ कलाओं के अंतर्गत ही माना है, उसे काव्य की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास तो क्या, बात भी नहीं सोची गयी। कलाएँ दरबारी चीजें हैं। इसलिए दरबारों के भोग-विलास के बीच इनकी ओर कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति हो ही जाती है। पर एक अच्छी बात यह हुई है कि विद्यापति ने श्रृंगार के कुछ इने-गिने पदों को छोड़कर अपनी चलती रचना के बीच ऐसी भद्दी प्रवृत्ति दिखाने का उद्योग नहीं किया। ऐसे चमत्काराधायक पद उनकी पदावली में अलग ही पड़े हैं। यहाँ पर कुछ दृष्टकूट उद्धृत किये जाते हैं। उन्हीं से विद्यापति की इस प्रकार की रचना का पता चल जायगा—

हरि सम आनन हरि सम लोचन
हरि तहाँ हरि बर आगी,
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहाबए,
हरि हरि कए उठि जागी
माधव हरि रहु जलधर छाई,
हरि-नयनी धनि हरि-घरिनी धनि
हरि हेरइत दिन जाई

× × ×

माधव आब बुझल तुअ साजे
पंच दून दह दह गुन सए गुन,
से देलह कोन काजे
चालिस चारि काटि चौठाई,
से हमसे पिआ मोरा
से निरखत मुख पेखत चौदिस,
करत जनम के ओरा
साठिहु महु दह बिदु बिबरजित,
के से सहत उपहासे
हम अबला अब पहुक दोससँ,
दुइ बिदु करब गरासे
नव बुन्दा दए नवए बाम कए,
से उर हमर पराने
कपटी बालमु हेरि न हेरए,
कारन के नहि जाने
भनइ बिद्यापति सुनु बर जौबति
ताहि करथि के बाधा
अपन जीव दए परक बुझाइअ
नाल कमल दुइ आधा।

गीतों में प्राचीन काल से न जाने कितने मार्मिक प्रसंगों की अनुभूतियों की व्यंजना होती चली आ रही है। जनसमाज में प्रचलित गीतों में इनका स्वरूप देखा जा सकता है। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनुपयुक्त वर आदि के कारण-स्वरूप रोने-कलपनेवाली तरुणियों के विलाप और वेदना से गीत भरे मिलेंगे। सपत्नी के कारण होनेवाली पीड़ा की भी व्यंजनाएँ पायी जाती हैं। गीतों में पाये जानेवाले प्रसंगों में से कुछ का ग्रहण तो साहित्य के भीतर भी हो गया है। नायिका-भेद की शाखा-प्रशाखाएँ

बढ़ाकर न जाने कितनी सामग्री उसमें समेट ली गयी, पर कुछ प्रसंग पूर्ण रसव्यंजक न होने के कारण छोड़ भी दिये गये हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे प्रसंगों से रसाभास मात्र होता है जो शास्त्राभ्यासियों के अनुसार बुरा है। पर खेद का विषय है कि परकीया और कहीं-कहीं सामान्या का भी विस्तार के साथ साहित्य के भीतर उल्लेख पाया जाता है और ये उक्तियाँ भी रसाभास मात्र हैं। उनकी अपेक्षा इन रसाभास मात्र को व्यक्त करनेवाले प्रसंगों की उक्तियाँ अधिक मार्मिक हैं। ध्यान देने की बात है कि लोक-प्रचलित गीतों में परकीया-प्रसंग थोड़ा ही पाया जाता है। उनमें गार्हस्थ्य-जीवन का ही हास-विलास, रोदन आदि विशेष मिलता है। अतः वेदना की बिवृति के विचार से इनका उल्लेख भी कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। विद्यापति ने बाल-विवाह पर एक मार्मिक पद लिखा है—

पिया मोर बालक हम तरुनी
कोन तप चुकलौंह भेलौंह जननी
पहिर लेल सखि एक दछिनक चीर
पिया के देखैत मोर दगध शरीर
पिया लेली गोद कै चललि बजार
हटिया क लोग पूछे के लागु तोहार
नहि मोर देवर कि नहि छोट भाइ
पुरुब लिखल छल बालमु हमार
बाट रे बटोहिया कि तुहु मोरा भाइ
हमरो समाद नैहर लेने जाऊ
कहिहुन बबा के किनए धेनु गाई
दुधवा पियाइ कें पोसता जमाई
नहि मोर टका अछि नहि धेनु गाई
कौनइ बिधि सें पोसब जमाई

किए बिके ऐलिहु आपे
बेढ़लिहु मोहि बड़ सापे
मोरे पापे लो।

करतहुँ पर उपहासे
परलिहुँ तन्हि बिधि फाँसे
नहि आसे लो।

अप्रस्तुत-योजना और अलंकार-विधान

काव्य में अप्रस्तुत दो प्रकार के आते हैं—एक वास्तविक और दूसरे कल्पना-प्रसूत। जिस प्रकार किसी प्रस्तुत के लिए कोई वास्तविक अप्रस्तुत लाकर कवि उसके स्वरूप को हृदयंगम कराने में समर्थ होता है उसी प्रकार कल्पना-प्रसूत अप्रस्तुत लाकर भी। कल्पना-प्रसूत अप्रस्तुत लाने में साधारण कवि समर्थ नहीं होता, पर असाधारण प्रतिभा-संपन्न कवि कभी-कभी कल्पना-प्रसूत ऐसे अप्रस्तुत लाते हैं जिनके द्वारा प्रस्तुत के संबंध में स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली वृत्ति के विरुद्ध सौंदर्य की वृत्ति जग पड़ती है। रक्त की बूँदे साँवले शरीर पर पड़कर उसमें कोई छबि शायद ही ला सकें। किंतु महाकवि तुलसीदास ने मरकतमणि के विशाल शैल पर फैली हुई बीरबहूटी का दृश्य सामने लाकर 'स्रोनित-छींट-छटान जटे' अपने प्रभु (राम) को 'महाछवि' से भर दिया है—

> **स्रोनित-छींट-छटान जटे 'तुलसी' प्रभु सोहैं महाछबि छूटी**
> **मानो मरक्कत सैल बिसाल में फैलि चलीं बर बीरबहूटी।**

उक्त दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों पर यदि अलंकार की दृष्टि से विचार किया जाय तो एक का क्षेत्र उपमा और दूसरे का उत्प्रेक्षा जान पड़ती है। समर्थ कवियों ने इस बात का सदा ध्यान रखा है। पर आधुनिक कवियों में यह बात बहुत कम मात्रा में पायी जाती है। अब कल्पना-प्रसूत या असंभावित दृश्य भी उपमा के रूप में लाये जाने लगे हैं। जैसे—

> **तिर रही अतृप्ति-जलधि में**
> **नीलम की नाव निराली।**
>
> **कालापानी बेला सी**
> **अंजन-रेखा है काली।**

उपमान या अप्रस्तुत में जितना ही प्रतीकत्व होता है उतने ही वे काव्योचित होते हैं। सादृश्य पर चलनेवाले अप्रस्तुतों में वैसी प्रभविष्णुता नहीं देखी जाती। अतः वास्तविक या संभावित दृश्य उत्प्रेक्षा के अंतर्गत चाहे भले खींच लिये जायँ, पर असंभावित दृश्यों को उपमा क्षेत्र में घसीटना कुछ भद्दा प्रतीत होता है। 'पदावली' के पढ़ने से पता चलता है कि विद्यापति ने इस भेद का बराबर ध्यान रखा है—

उरहि अंचल झाँपी चंचल
आध पयोधर हेरु
पौन पराभव सरद-घन जनि
बेकत कएल सुमेरु

× × ×

कर जुग पिहित पयोधर अंचल
चंचल देखि चित भेला
हेम कमल जनि अरुनित चंचल
मिहिर-तरे निंद गेला।

कवि के रस-प्रवण होने पर जब उसकी विधायक कल्पना जग उठती है तो वह अपने विभाव-विधान के लिए जो कुछ न कह डाले वही थोड़ा है। संभवतः यही कारण है कि 'सूरदास' ऐसे कवि भी जहाँ विभाव-विधान करने लगे हैं वहाँ उसे स्पष्ट करने के लिए अप्रस्तुतों का ढेर लगा दिया है। फलतः पाठक का ध्यान वर्ण्य विषय से दूर हो जाता है। पर विद्यापति के अप्रस्तुत-विधान में यह विशेषता दिखलाई पड़ती है कि वे प्रायः एक प्रस्तुत के लिए एक ही अप्रस्तुत लाते हैं। इनके अप्रस्तुत-व्यापार ऐसे भी नहीं हुए हैं जो प्रस्तुत-व्यापार के विरुद्ध भावना उद्दीप्त कर, प्रत्युत वे भावना को सम्यक् रूप देने में ही समर्थ हुए हैं।

एक बात और। शृंगार के मूल में सौंदर्य है। यदि शृंगार प्रकृत रूप में हुआ तो वह सौंदर्य-बोध कराता है और यदि विकृत हुआ तो

कामोद्दीपन का साधन बनता है। कहना न होगा कि विद्यापति संस्कृत के पतनोन्मुखी काल की कवि-परंपरा में आते हैं और वे 'अमरुकशतक', 'शृंगार-तिलक' इत्यादि से बहुत प्रभावित हैं, किन्तु अपनी अप्रस्तुत-योजना द्वारा उन्होंने अपनी कविता को विकृत होने से बहुत कुछ बचा लिया है। वे मानव-सौंदर्य के कवि हैं। मानव-सौंदर्य में वे नारी-सौंदर्य से अधिक प्रभावित हैं। इसमें कुच-सौंदर्य पर उनकी दृष्टि अधिक टिकी है। रूप-विधान करते समय अन्य अंग भले छूट जायँ, किंतु कुच-वर्णन में वे नहीं चूकते। इसके लिए वे जो अप्रस्तुत सामने लाते हैं वे प्रायः ऐसे होते हैं जो पाठक को रमणीय कल्पना में डुबा देते हैं और कामोद्दीपन के लिए अवकाश नहीं छोड़ते। उनका यह विधान उन्हें रीतिकालीन कवियों से पृथक् कर देता है। देखिये, गले से लटकती हुई मोतियों की माला शंख से गिरती हुई सुरसरी बनकर पीन पयोधरों को स्वर्ण-शिव-लिंगों में कैसे बदल देती है? फिर त्रयताप-नाशिनी सुरसरि और कामारि के समीप काम को स्थान कहाँ?

गिरिबर गरुअ पयोधर-परसित
जिमि गज मोतिक हारा।
काम कंबु भरि कनक संभु परि
ढारत सुरसरि धारा।

विद्यापति ने अप्रस्तुत-योजना के लिए उन्हीं वस्तुओं और व्यापारों को चुना है (भले वे कवि समय हों) जिनकी रमणीयता और भव्यता आदि का संस्कार लोकहृदय पर पहले ही से चला आ रहा है।

अप्रस्तुतों की इस सामान्य चर्चा के उपरांत अब थोड़ा-सा विचार इनके अलंकार-विधान पर कर लेना चाहिए। यदि कवियों के अलंकार विधान पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि अधिकांश अलंकारों का आधार साम्य है। साम्य का चमत्कार दिखाने के लिए कभी-कभी तो सदृश शब्दों या सदृश वाक्यों को ही लेकर अलंकारों की

योजना कर ली जाती है। पर इस प्रकार के अलंकारों का काव्य में विशेष महत्त्व नहीं है। इनके द्वारा काव्य में एक प्रकार का चमत्कार आ जाता है जिससे चमत्कृत होकर हम कवि की कारीगरी पर थोड़ी देर के लिए मुग्ध हो जाते हैं; हमारे हृदय में आनंदानुभूति का उद्रेक हो जाता है। पर वह न तो गंभीर होता है और न स्थायी। किंतु जो अलंकार-विधान स्वरूप तथा धर्म के साम्य को लेकर चलता है वह अवश्य बड़ा काव्योचित होता है। परंतु यहाँ भी एक सावधानी की आवश्यकता होती है। कविता का लक्ष्य केवल वस्तु-बोध कराना ही नहीं है, वरन् भावोत्कर्ष कराना है। अतः यदि साम्य किसी वस्तु की जानकारी कराने भर के लिए न हुआ प्रत्युत भावना-विशेष को जगानेवाला हुआ तो उस साम्य का मूल्य काव्य में बढ़ जाता है। सारांश यह कि "भावों का उत्कर्ष दिखानेवाली और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।""यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की सहायता नहीं पहुँचती तो वे काव्यालंकार नहीं, भारमात्र हैं।" इस कसौटी पर कसने से विद्यापति खरे उतरते हैं। उन्होंने चमत्कारमूलक अलंकार, जैसे यमक, श्लेष आदि का प्रयोग बहुत ही कम किया है। उनके अलंकार-विधान में दिमागी कसरत है ही नहीं। वर्ण्य के साथ अलंकार आप-से-आप घुले-मिले चले आते हैं। उन्होंने भावों की उत्कर्ष-व्यंजना की सहायता के लिए शुद्धापह्नुति, हेतूत्प्रेक्षा, पर्यायोक्ति, विभावना, रूपक और उपमा का प्रयोग किया है। रूप का अनुभव तीव्र कराने के लिए रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति, निदर्शना की सहायता ली है। पर इसमें प्रधानता है उत्प्रेक्षा की। ललितोपमा, तुल्ययोगिता तथा रूपक द्वारा क्रिया का अनुभव तीव्र कराया गया है। गुण का अनुभव तीव्र कराने के लिए व्यतिरेक, सन्देह और भ्रम से काम लिया गया है। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण लीजिए—

खसन परस खसु अंबर रे,
देखल धनि देह।

नव जलधर-तर संचर रे
जनि बिजुरी रेह।
आ देखल धनि जाइत रे,
माहि उपजल रंग।
कनक लता जनि संचर रे,
महि निर अवलंब।
ता पुन अपुरब देखल रे,
कुच जुग अरविंद।
बिगसित नहिं किछु कारन रे,
सोझा मुखचंद।

कहना न होगा कि विविध प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ नायिका के सौंदर्य की अनुभूति बढ़ाने की दृष्टि से की गयी है; खेलवाड़ के लिए नहीं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की उक्तियाँ नायक की स्वगतोक्ति मानी जायेंगी। अतः इनसे नायक के प्रेम-भाव की पूरी व्यंजना ही नहीं होती, वरन् ये उस भाव की वृद्धि कराने में भी सहायक हैं। इसी प्रकार रूपोत्कर्ष की व्यंजना के लिए गम्योत्प्रेक्षा का उदाहरण लीजिये—

सहजहि आनन सुंदर रे,
भौंह सुरेखलि आँखि।
पंकज-मधु पिबि मधुकर रे,
उड़ए पसारल पाँखि।

विद्यापति ने अधिकतर साम्यमूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने वर्ण्य विषय के प्रति उत्पन्न होनेवाले भाव और साम्य के लिए लाये गये अप्रस्तुत के द्वारा जगनेवाले भाव के एकत्व का बराबर ध्यान रखा है। यही बात वस्तु के रूप, गुण, क्रिया आदि के उत्कर्ष के संबंध में भी कही जा सकती है। अधिक उदाहरण न देकर हम उनके अलंकार-विधान के कुछ उदाहरण

नीचे प्रस्तुत करते हैं। समझ रखना चाहिए कि विद्यापति ने चमत्कार के लिए दृष्टकूट के फुटकल पदों को छोड़कर और कहीं भी अलंकारों की भद्दी योजना नहीं की है। यहाँ तक कि रूपकातिशयोक्ति भी सूरदासजी की तरह भद्दी पहेली न होकर रूप के उत्कर्ष में सहायता पहुँचानेवाली है—

माधव की कहब सुंदरी रूपे।
कतेक जतन बिहि आनि समारल,
देखल नयन सरूपे
पल्लब-राज चरन-जुग सोभित,
गति गजराज क भाने
कनक-कदलि पर सिंह समारल,
तापर मेरु समाने
मेरु ऊपर दुइ कमल फुलायल,
नाल बिना रुचि पाई
मनिमय हार धार बह सुरसरि,
तओ नहि कमल सुखाई
अधर बिंब सन, दसन दाड़िम बिजु
रवि ससि उगथिक पासे
राहु दूर बस नियरो न आवथि,
तें नहि करथि गरासे
सारँग नयन बयन पुनि सारँग
सारँग तसु समधाने
सारँग ऊपर उगल दस सारँग,
केलि करथि मधुपाने।

रूपक, उपमा, यमक, रूपकातिशयोक्ति की यह विचित्र संसृष्टि सूरदास के प्रसिद्ध 'अनूपम बाग' से अधिक अद्भुत ही नहीं, वरन् १५० वर्ष अधिक पुरानी भी है। इसे पढ़कर केवल कुतूहल का उन्मेष नहीं

होना, वरन् उस वैचित्र्य की अनुभूति उद्बुद्धि होती है जो नवीन वयस् को देखकर हुआ करती है। इसमें संदेह नहीं कि समस्त उपमान वे ही हैं जो काव्य में सदा से बँधे चले आये हैं, पर वे निस्संदेह ऐसे हैं जो रूप, रंग और आकार-साम्य से सौंदर्य की भावना तीव्र करते हैं। अब एक उदाहरण अपह्नुति अलंकार का लीजिये—

कतन बेदन मोहि देसि मदना
हर नहि बला मोहि जुबति जना
बिभुति-भूषन नहि चानक रेनू
बघछाल नहि मोरा नेतक बसनू
नहि मोरा जटाभार चिकुर क बेनी
सुरसरि नहि मोरा कुसुमक स्रेनी
चाँदक बिबु मोटा नहि इन्दु छोटा
ललाट पावक नहि सिंदुर क फोटा
नहिं मोरा कालकूट मृगमद चारु
फनपति नहि मोरा मुकुता-हारु
भनइ बिद्यापति सुन देव कामा
एक पए दूखन नाम मोरा बामा।[1]

यहाँ ध्यान देने की बात है कि कवि ने एक ओर तो पाठक का ध्यान आकर्षित करने के लिए चमत्कारमूलक अलंकार का प्रयोग किया है और दूसरी ओर विरहिणी की भावना की व्यंजना करायी है। वियोग में उसे चंदन विभूति के समान, नित्य के पहनने के वस्त्र चर्मवत्, बाल जटा

---

१. इस प्राचीन संस्कृत-उक्ति से मिलाइए—

जटा नेयं बेणी कृतकचकलापो न गरलं
गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम्।
इयं भूतिर्नांगे प्रियविरहजन्मा धवलिमा
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर! किं मां व्यथयसि॥

के समान, सिंदूर-बिंदु चिनगारी-सा प्रतीत हो रहा है। कहना न होगा कि कवि का यह अप्रस्तुत-विधान भावमूलक है और विरह-वेदना के मेल में है।

ऊपर जो कुछ थोड़े-से उदाहरण दिये गये हैं उनसे यह पता चल जायगा कि विद्यापति में वह सच्ची कवि-कल्पना है जो भावोद्रेक द्वारा परिचालित होकर भाव में पोषक स्वरूप ही सामने रखती है, बिना किसी भाव में लीन हुए अनोखे रूप देखने नहीं जाती।

भाषा तथा शैली

विद्यापति की 'पदावली' की भाषा मैथिली है। यह मागधी की एक विकसित शाखा है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पूर्वीय भाषाओं की मूल भाषा मागधी है। उसी के विकास से ये चार शाखाएँ उत्पन्न हुईं—

१—पूर्वी-दक्षिणी शाखा—उड़िया

२—उत्तर-पूर्वीय शाखा—आसामी

३—मध्य शाखा—मैथिली, मगही, बंगला

४—पश्चिमी शाखा—भोजपुरी

इन भाषाओं में मैथिली का एक स्वतंत्र स्थान है। इस भाषा की लेखन-प्रणाली तथा उच्चारण से स्पष्ट है कि यह भाषा हिंदी और बंगला की मध्यवर्तिनी है। इसके शब्दों का उच्चारण न तो बहुत गोलाकार होता है और न बहुत चिपटा ही। इसके क्रियापद तथा कारकों के चिह्न भी हिंदी से भिन्न होते हैं। इसके सर्वनाम पाली तथा प्राकृत से ही मिलते हैं। इन सब बातों के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मैथिली एक स्वतंत्र भाषा है। इसी भाषा में विद्यापति ने 'पदावली' की रचना की है।

विद्यापति यथार्थ में मैथिल-कोकिल ही हैं। उनकी कोमल-कांत पदावली अत्यंत स्निग्ध और मधुर है। 'कीर्तिलता' की प्रस्तावना में उन्होंने कहा है—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। ते तैसन जंपओ अवहट्ठा

इससे स्पष्ट है कि उस समय अपभ्रंश या अवहट्ट में तो साहित्य-ग्रंथों की रचना होती थी और बोल-चाल की भाषा उससे भिन्न थी, जिसमें संभवत: कोई बड़ी रचना नहीं होती थी। पर उस देशी बोली में मिठास अधिक थी, उसी मिठास के कारण विद्यापतिजी ने उसे काव्य क्षेत्र में

अपनाया और उसमें मुक्तक प्रगीतों की रचना तो की ही, साथ ही अपनी अपभ्रंश या अवहट्ट की रचना में भी, इसी मिठास के कारण 'देशी बोली' का मेल कर दिया। इस प्रकार 'सब जन मिट्ठ—देसिल बअन' की भरपूर मिठास वे अपनी 'पदावली' में ले आये होंगे। विद्यापति के पदों का माधुर्य बतलाया है कि ठेठ बोली की स्वाभाविक माधुरी वे अपनी 'पदावली' में अधिकाधिक लाये हैं, कोमल-कांत पदावली लिखने में मैथिल सिद्धहस्त होते ही हैं। संस्कृत में भी कोमल-कांत पदावली लिखने में जो सफलता मैथिल जयदेव को मिली है वह किसी और को नहीं। विद्यापति की 'पदावली' में मैथिली की छवि का पूर्ण विस्तार हुआ है। भाषा के संबंध में 'कीर्तिलता' में आयी हुई उनकी यह गर्वोक्ति उचित ही है—

बालचंद विज्जावइ भाषा
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसर हर सिर सोहइ
ई निच्चय नाअर मन मोहइ।

मिथिला वंगदेश के निकट है, वह वंगदेश का द्वार है। दरभंगा, जहाँ के विद्यापति रहनेवाले थे, द्वारवंग (बंगाल का द्वार) ही कहलाता था। अतः मैथिली पर बँगला भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। परंतु बँगला की अपेक्षा उसकी समानता हिंदी की पूर्वी विभाषा से अधिक है। सामान्यभूत में लकारांत प्रयोग 'भेल', 'गेल', 'दिल', 'लेल', 'उद्वेगल', 'मिलावल' इत्यादि पूर्वी के ही अधिक मेल में हैं। शुद्ध पूर्वी रूप 'कयल' भी मिलता है—'धरनिय चंच कयल परगास। इन लकारान्त रूपों का 'ल' संस्कृत कृदंत 'गतः' आदि रूपों के विसर्ग 'र' में और 'र' से 'ल' में परिवर्तित हो गया जान पड़ता है। ब्रजभाषा के ओकारान्त रूप (भयो, गयो, दयो आदि) भी उसी विसर्ग के विकसित रूप हैं। पूर्वी में मूल धातु का अकारांत रूप वर्तमान काल में प्रयुक्त होता है। पर कबिता में ऐतिह्य वर्तमान के रूप में वह भूतकाल में भी आता है। विद्यापति में भी ऐसा है, जैसे—

मनमथ कोटि-मथन करु जेजन
से हेरि महि मधि गोर

यहाँ 'गीर' का अर्थ है 'गिरता है' अर्थात् 'गिरा'। 'हनहन कर तुअ काता' में 'कर' का अर्थ है 'करता हैं' अर्थात् 'करता था'। पूर्वी में वर्तमान काल का 'अइ' या एकारांत रूप शुद्ध 'अइ' या 'अए' के रूप में विद्यमान है—'अब करइ सिंगार', 'सखि पूछइ', 'निरजन उरजन हेरइ', 'हसइ से अपन पणोधर हेरि'। इसी प्रकार 'सुनए', 'विलसए', 'चड़ए' 'बाजए', 'घन-घन घनए घुघुर कत बाजए'। इतना ही नहीं 'हेरए' 'चड़ए' रूप, जो अर्धमागधी और नागर अपभ्रंश दोनों के मेल में हैं, उनके पदों में पाये जाते हैं। क्रिया हेत्वर्थ का रूप, जो संज्ञा चतुर्थी के अनुरूप होता है, पूर्वी का अपना एक विशेष धातु-रूप है, वह भी 'पदावली' में 'अए' के रूप में विद्यमान है—'गोरस बेचए अवइत जाइत'। मूल धातु में 'ब' लगाकर पूर्वी हिंदी में वर्तमान और भविष्य का जो रूप बनाया जाता है वह रूप भी 'पदावली' में मिलता है—'सुनइत मानव सपन सरूप', 'हमरि ए विनती कहब सखि रोय।' विधि-क्रिया के रूप भी हिंदी के अनुकूल हैं—'देखि-देखि राधा-रूप अपार', 'वंदह नंदकिसोरा', 'बचन सुनहु किछु मोरा', 'करु अभिलाख मनहि पद पंकज' अर्धकालिक या पूर्वकालिक क्रिया के रूप भी उसी के अनुकूल हैं—'से हेरि महि मधि' 'अहोनिसी काटे अगोरि'।

विभक्तियाँ भी हिंदी से मिलती हुई हैं। पूर्वी हिंदी के संबंध कारक की विभक्ति 'क' 'का' 'कर' 'केरि', संप्रदान की 'लागि', अपादान की 'चाहि' सँ (सयँ) का प्रयोग तो 'पदावली' में है ही, साथ ही कर्ता, करण और अधिकरण में 'ए' 'एँ' 'हुँ' और पूर्णबिंदु का प्रयोग भी है। मध्य-कालीन पूर्वी हिंदी में 'सकना' और 'लाना' के लिए 'पारना' तथा डालना या छोड़ना के लिए 'मेलना' का प्रयोग हुआ है। वह भी 'पदावली' में मिलता है। विद्यापति ने 'जनु' और 'जनि' का प्रयोग क्रमशः 'नहीं' और 'मानो' के अर्थ में किया है। इनका प्रयोग हिंदी में भी बराबर होता

आया है। हाँ, तुलसीदास के समय में अर्थ में विपर्यय पाया जाता है। उन्होंने जनु का प्रयोग मानो के अर्थ में और जनि का 'नहीं' के अर्थ में किया है। जायसी ने जनि के स्थान में 'जिन' का प्रयोग 'नहीं' के अर्थ में किया है। अस्तु, मैथिली को हिंदी के ही निकट कहना पड़ता है, बंगला के नहीं।

'पदावली' की भाषा को देखते हुए मानना पड़ेगा कि यह आजकल की मैथिली से भिन्न है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। भाषा समय की गति के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती है। विद्यापति विक्रम की १५वीं शती में हुए थे। अतः ५०० वर्षों में इस प्रकार की भिन्नता आ जाना अस्वाभाविक नहीं। 'पदावली' की भाषा के रूपों की भिन्नता का दूसरा कारण यह भी है कि भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों ने उसपर अपना-अपना रंग चढ़ाया। इस संबंध में श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

"विद्यापति की भाषा की दुर्दशा भी खूब हुई है। बंगालियों ने उसे ठेठ बँगला रूप दे दिया है, मोरंगवालों ने मोरंग का रंग चढ़ाया है। बाबू ब्रजनंदनसहायजी ने उसपर भोजपुरी की कलई की है और आज-कल के मैथिल उसपर आधुनिक मैथिली का रोगन चढ़ा रहे हैं। भगवान् विद्यापति की कोमल-कांत पदावली की रक्षा करें।"

'पदावली' की भाषा के गुणों पर विचार करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह भावों को व्यक्त करने में पूर्णतया सहायक हुई है। भाषा वही अच्छी कही जाती है जो भावों को पाठकों तक भली भाँति पहुँचा सके। विद्यापति की भाषा उनकी शृंगारिक रचनाओं के अनुकूल ही हुई है। अनुप्रासों की योजना भी बहुत सुंदर हुई है। गुण, वृत्ति, रीति आदि भी शृंगार के अनुकूल पाये जाते हैं। हाँ, विरोधमूलक उक्तियाँ तथा लाक्षणिक प्रयोगों की कमी है, जिसकी कुछ पूर्ति मुहावरों से हो जाती है। कहना न होगा कि मुहावरे एक प्रकार के रूढ़ लाक्षणिक प्रयोग ही हैं। इनमें अधिकतर चेतन और जड़ के विशेषणों का विपर्यय

देखा जाता है; चेतन के क्रिया-कलापों या विशेषणों का प्रयोग जड़ों के साथ और जड़ों के विशेषणों का प्रयोग चेतन के साथ हुआ करता है। जैसा 'अंधा कुआँ' कहने में 'अंधा' चेतन जगत् की विशेषता है, जिसके आँख ही नहीं, वह कैसा अंधा होगा ? पर यहाँ अंधा कहने का तात्पर्य घास-फूस से ढका होता है। इसके विपरीत 'चेहरा खिल गया' कहने से 'खिलना' क्रिया जड़ जगत् से आयी है। फूल खिला करते हैं। चेहरे का खिलना लाक्षणिक प्रयोग है। यही विलक्षणता जब प्रयोजनवती होती है तो वह मुहावरा नहीं रह जाती। पुराने कवि अधिकतर रूढ़ वाणी का ही व्यवहार करते आये हैं। पर अवसर विशेष पर भाषा की पूर्ण पहचान रखनेवाले कवियों ने प्रयोजन के लिए स्वच्छंद लाक्षणिक प्रयोग भी दिये हैं। जैसे तुलसीदासजी लिखते हैं—'सीदत साधु साधुता सोचति हुलसत खल बिलसति खलई है'। 'साधुता सोचति' और 'खलई बिलसति' प्रयोजन-गत लाक्षणिक प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोग नवीन कविता में बहुत अधिक होने लगे हैं और निर्बाध होने लगे हैं। मनमाने लाक्षणिक प्रयोगों से भाषा की बोधगम्यता को धक्का लगता है। आजकल यही अधिक हो रहा है। पुराने कवियों ने रूढ़ वाणी का ही अधिक सहारा लेकर उसे सुपरिचित रखा है और जहाँ नवीन प्रयोग किये भी हैं वहाँ उनकी सरणि लक्षित हो जाती है। विद्यापति के मुहावरों की कुछ बानगी भी लीजिये —

नीद भरल अछ लोचन तोर
कोमल बदन कमल रुचि-चोर

× × ×

बारि बिलासिनि केलि न जानथि
भाल अरुन उड़ि गेला

× × ×

अधर बसन देखि जिन मोरा कांपे
चाँद-मंडल जनि राहु क झांपे

× × ×

लोलुअ बदन-सिरी अछि धनि तोरि
जनु लागिह तोहि चाँद का चोरि।

मुहावरों के साथ-साथ पदावली में लोकोक्तियों की भी अच्छी योजना दिखाई पड़ती है जो मैथिली भाषा की संपत्ति हैं। मुक्तक-रचना में लोकोक्तियों का विधान लोक-भाषा की संपत्ति पर कवि का बहुत बड़ा अधिकार सूचित करता है। स्त्रियों या ब्रजबालाओं की उक्तियों में लोकोक्तियों का प्रयोग कवि का निरीक्षण भी सूचित करता है। सूर की गोपियाँ भी बात-बात में लोकोक्तियों का प्रयोग करती देखी जाती हैं और आगे चलकर ठाकुर ने स्त्रियों की उक्ति में उनका बहुत ही अच्छा प्रयोग किया है। विद्यापति के पदों में भी लोकोक्तियों का अधिक प्रयोग स्त्रियों की उक्तियों में ही मिलता है और वे बहु-प्रचलित भी दिखाई देती हैं। किसी बात का रहस्य खोलने पर उसका स्वरूप ठीक-ठीक समझा देने के ही लिए जनता न जाने कब से परंपरागत लोकवाणी का विधान करती चली आ रही है। मुक्तक-रचना करनेवाले कवि इस विभूति के दर्शन कराने और विषय को हृदयंगम कराने में न जाने कब से प्रवृत्त हैं। इन्हीं की अखंड परंपरा में विद्यापति ने भी उनका अनुगमन किया है और वाङ्मय की शक्ति का बहुत ही अच्छा परिचय दिया है। 'पदावली' में लोकोक्तियाँ भरी पड़ी हैं—एक-एक से बढ़कर। दो-चार देखिए—

हाथे न मेट पखान क रेहा
हाथक काँगन अरसी काज
भमरा भरे मौंजरि न भाँगे
(आम की मंजरी भ्रमर के भार से नहीं टूटती)
बड़ेओ भूखल नहि दुहु कओरे खाए
(दोनों हाथों बहुत भूख लगने पर भी नहीं खाया जाता)
अपन बेदन तिहि निबेदिअ
जे परबेदन जान

आरति गाहक महग बेसाह
कुदिना हितजन अनहित रे
थिक जगत स्वभाव
(समय परे रिपु होहिं पिरीते)

कूप न आवए पथिक के पास
गेल भाव जे पुनु पलटावए
से हे कलामति नारी
दूध क माछी दूती भेल
(घी को मक्खी की भाँति दूती हुई)

नख छेदन के लाब कुठार
पिपड़ी काँजओ पाँखि जनमए
अनल करए झपान
(चींटी के पंख जमना)

भेक न पिबए कुसुम मकरंद
लाभ क लागि भूल डुबि गेल
बानर कंठे को मोतिम हार
हृदय क कपटी बचने पिआर
(बंदर के गले में मोती की माला !)

वाङ्मय की पूरी परख रखनेवाले विद्यापति ने 'देसिल बअना' में संस्कृत पदावली का बड़ा सुंदर मेल किया है। यह उसके साथ घुल-मिल गयी है—संस्कृत पदावली 'देसिल बअना' पर कहीं भी लदी हुई नहीं है। फलतः भाषा का प्रकृत रूप कहीं भी विकृत नहीं हुआ है। उसमें अलंकार की छटा भी है, पर वह इसकी सर्वत्र अपेक्षा नहीं करती। जहाँ भावना की तीव्रता है वहाँ भाषा का लोक-प्रचलित रूप ही है। भाव के साथ भाषा ही नहीं, छंद भी चलते हैं। एक उदाहरण लीजिये—

लोचन धाए फेनायल
हरि नहि आयल रे।
सिव-सिव जिवओ न जाए
आस अरुझायल रे।

शोकाकुल प्राण जैसे सिमिटकर कंठगत हो गये हैं वैसे ही सारी वेदना सिमिटकर 'सिव-सिव' में निहित हो गयी है। छोटे-छोटे चरण शब्द-बाहुल्य ही नहीं सह सकते, अलंकार कैसे धारण करें? पर जहाँ अभिराम यौवन है वहाँ चरणों में शब्दों की मांसलता ही नहीं है, अलंकारों की चमक-दमक भी है, क्रम है, श्लेष है, उत्प्रेक्षा है, व्यतिरेक है। जहाँ देखिये सर्वत्र दीर्घता है, विस्तार है, विस्मय है—

कि आरे! नव जौबन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ,
छओ अनुपम एक ठामा।
हरिन इंदु अरविंद करिनि हेम
पिक बूझल अनुमानी।
नयन बदन परिमल गति तनरुचि
अओ अति सुललित बानी।
कुच जुग परसि चिकुर फुजि पसरल
ता अरुझायल हारा।
जनि सुमेरु ऊपर मिलि ऊगल
चाँद बिहिनु सब तारा।
लोल कपोल ललित मनि कुण्डल
अधर बिंब अध जाई।
भौंह भमर नासापुट सुन्दर
से देखि कीर लजाई।

थोड़े शब्दों में सरलतापूर्वक बहुत कह ले जाने की जैसी क्षमता विद्यापति में है, वैसी बहुत कम कवियों में पायी जाती है। इसका उदाहरण पहला उद्धरण तो है ही, सोहाग और प्रेम के भेदक लक्षण का ऐसा ही एक उदाहरण और लीजिये—

तेल बिंदु जैसे पानी पसारिए
ऐसन मोर अनुराग।
सिकता जल जैसे छनहि सूखए
तैसन मोर सुहाग।

उपसंहार

कविता की सुधाधारा बहानेवाले कोकिल-कंठ विद्यापति को तीन भाषाएँ अपनाती हैं। बँगलावाले इन्हें बंगला का कवि समझते हैं, हिंदी भाषा-भाषी अपना कवि मानते हैं और इधर जब से डाक्टर ग्रियर्सन ने मैथिलों के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर दी है कि मैथिली हिंदी से स्वतंत्र भाषा है तब से स्वभावतया वे दोनों के दावों का विरोध करने लगे हैं। अर्थात् वे विद्यापति को मैथिली भाषा का कवि मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि विद्यापति वस्तुतः मैथिली के ही कवि कहे जा सकते हैं, यदि केवल उनके पदों को ही सामने रखा जाय। पर एक तो मैथिली का कोई पृथक् साहित्य उस परिमाण में नहीं देखा जाता जिसके कारण उसे पृथक् ग्रहण किया जा सके, दूसरे मैथिली कम-से-कम साहित्य के विचार से हिंदी की ही एक शाखा है। हिंदी विद्यापति को मैथिली ही के द्वारा अपनाती है। विद्यापति पर हिंदी का दावा मैथिली के विरोध में नहीं है। बंगालियों का यह गुण है कि वे अपनी गौरव-वृद्धि के लिए दूसरों को अपनाने में आनाकानी नहीं करते। इसी लिए विद्यापति को वे अपनी ओर खींचते हुए कुछ तर्क भी देते हैं।

विद्यापति को अपनाने के लिए बंगालियों के दो तर्क हैं। एक तो उनकी भाषा में कुछ रूप बँगला के से हैं, दूसरे उन्होंने अपने शृंगारी काव्य के लिए राधा-कृष्ण को नायक-नायिका के रूप में चुना है। मैथिली-कोकिल विद्यापति की रचनाएँ जिस भाषा में पायी जाती हैं, भाषा-विज्ञान-विशारद उस भाषा को हिंदी के क्षेत्र से बाहर घोषित करते हैं। पर विचार करने से विद्यापति हिंदी के ही कवि अधिक सिद्ध होते हैं। हिंदी-साहित्य के अंतर्गत जितनी रचनाएँ गृहीत होती आयी हैं, उनपर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि हिंदी-

साहित्य ने संस्कृत से लगाव रखनेवाली समस्त प्राकृतों का उत्तराधिकार ग्रहण किया है। इस साहित्य के भीतर जिस प्रकार शौरसेनी से लगाव रखनेवाली व्रजभाषा, बुंदेली, राजस्थानी के वाङ्मय का संकलन है उसी प्रकार अर्धमागधी से संबंध रखनेवाली अवधी के वाङ्मय का भी। अतः मागधी से संबंध रखनेवाली देशी भाषाओं के वाङ्मय का संकलन भी हिंदी-साहित्य के अंतर्गत ही होना चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि फिर बँगला, गुजराती और मराठी के साहित्य को भी हिंदी के अंतर्गत क्यों नहीं माना जाता। उत्तर यह है कि अब बँगला, गुजराती और मराठी भाषाएँ हिंदी भाषा से बहुत दूर जा पड़ी हैं। उनका साहित्य उसी प्रकार हिंदी से पृथक् समझना चाहिए जिस प्रकार उर्दू का अब एक पृथक् साहित्य खड़ा हो गया है। आरंभ में यह बात नहीं थी। यही कारण है कि मागधी की सारी विशेषताएँ लेकर बँगला नाम की जो देश-भाषा उत्पन्न हुई उसकी पुरानी कविताएँ भी हिंदी के लगाव में देखी जा सकती हैं। भारतवर्ष की पुरानी प्राकृतों में सबसे प्रधान शौरसेनी ही थी। सामान्य काव्य-भाषा के रूप में उसका बहुत दूर तक व्यवहार था। महाराष्ट्री नाम की प्राकृत उसी शौरसेनी का एक विकृत रूप मात्र थी। शौरसेनी का प्रभाव इसी कारण उनसे भिन्न पड़नेवाली मागधी पर भी पड़े बिना न रहा। महाराष्ट्री और मागधी की विशेषताओं को लेकर विकसित होनेवाली देश-भाषाओं के प्राचीन रूप को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि वे हिंदी के अधिक निकट हैं। गुजराती, महाराष्ट्री और बँगला की प्रारंभिक रचनाएँ प्रमाण में उद्धृत की जा सकती हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों देशी भाषाएँ अपना-अपना स्वरूप एक दूसरे से दूर करती चली गयीं और अब उन देशी भाषाओं में बहुत अंतर पड़ गया है।

विद्यापति ठाकुर की देशी भाषा और अवहट्ट की रचनाएँ देखने से इस बात की पुष्टि होती है कि उनपर देश की सामान्य काव्य-भाषा का प्रभाव पड़ा है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में अपभ्रंश की चली आती

हुई परंपरा का पालन किया है। पर देशी भाषा में लिखे गये अपने पदों में लोक-भाषा के परिष्कृत रूप का आभास दिया है। भारतवर्ष की भाषाओं की विशेषता यह रही है कि जब-जब लोक-भाषा साहित्यारूढ़ होती गयी है तब-तब वह अपना संबंध सीधे संस्कृत से पुनः जोड़ लेती रही है। यही कारण है कि विद्यापति अपनी 'अवहट्ट' की रचना में अपने नाम तक का अपभ्रंश रूप 'विज्जावइ' रखते हुए देखे जाते हैं, पर देशी भाषा की रचना में ऐसा नहीं है।

विद्यापति की रचना को हिंदी-साहित्य के अंतर्गत गृहीत करने का दूसरा कारण यह है कि शब्दावली के विचार से वह हिंदी ही के निकट है, बँगला के नहीं। किसी विशेष साहित्य के अंतर्गत किसी रचना को मानने के लिए उस रचना की भाषा के क्रियापदों तथा सर्वनामों का ही विचार करना ठीक नहीं जान पड़ता; उसमें प्रयुक्त शब्दावली पर भी विचार करना आवश्यक है। यही कारण है कि लोग पिंगल (व्रजभाषा) ही नहीं, डिंगल (राजस्थानी) की रचनाओं को भी हिंदी के ही अंतर्गत मानते हैं।[1] इस बात को छोड़कर जनता की कसौटी पर भी जब हम इस बात को कसने लगते हैं तब भी मैथिल लोगों के अधिक निकट हिंदी ही जान पड़ती है। इस संबंध में आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल अपने 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं—

"........खड़ी बोली, बाँगड़ू-ब्रज, राजस्थानी कन्नौजी, बैसवारी अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिंदी के अंतर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलनेवाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में 'आयल' 'आइल' 'गयल' 'गइल', 'हमरा', 'तोहरा' आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिंदी के सिवाय दूसरी नहीं कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिंदी-साहित्य बीसलदेवरासो पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।"

१. देखिये रामकुमार वर्मा का 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'।

अब रही बंगालियों की दूसरी बात कि विद्यापति ने अपनी श्रृंगारी काव्य के लिए राधा-कृष्ण को ही चुना है। चैतन्य महाप्रभु के द्वारा वैष्णव धर्म की प्रधानता जो बंगाल में हुई उससे विद्यापति के प्रति भावुक बंगालियों का स्वाभाविक प्रेम हो गया। इस बात का उत्तर स्थान-स्थान पर ऊपर दिया जा चुका है। अतः इस विषय में यहाँ पर अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। इन्होंने राधा-कृष्ण को श्रृंगार के अधिष्ठातृ-देव के रूप में लिया है। इससे स्पष्ट है कि इनका लगाव साहित्य पर जनता के बीच अज्ञात काल से चली आती हुई श्रृंगार की परंपरा से है, चैतन्य महाप्रभु के उद्‌बोधन से नहीं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा-कृष्ण की लीला का जो वर्णन है उससे स्पष्ट है कि चैतन्य महाप्रभु के पूर्व पुराणों ने जनता में राधा-कृष्ण-लीला का प्रचार कर दिया था, चैतन्य महाप्रभु ने तो उसी पौराणिक भावना को आगे बढ़ाने में योग मात्र दिया। अतः बंगालियों का दूसरा दावा भी निरर्थक है। अंत में यही कहना पड़ता है कि मैथिल-कोकिल विद्यापति हिंदी-साहित्य के ही रत्न थे।

यहाँ तक तो यह दिखाने का प्रयत्न किया गया कि विद्यापति हिंदी-साहित्य की विभूति थे। अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि हिंदी साहित्य में उनका क्या स्थान है। विद्यापति तथा उनके काव्य के उपर्युक्त विवेचन से उनकी कुछ विशेषताएँ सामने रखी जा चुकी हैं। उनसे स्पष्ट है कि विद्यापति श्रृंगारी कवि थे। श्रृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का जिस विस्तार और सूक्ष्मता के साथ इन्होंने वर्णन किया उसका भी कुछ आभास मिल चुका है। प्रेम-भाव की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वृत्तियों तक इनकी दृष्टि गयी है। काव्य के भाव-पक्ष और साथ ही कला-पक्ष पर भी इनका समान अधिकार था। प्रसंगों की उद्भावना की शक्ति भी इनमें उच्च कोटि की थी, जिसका आभास इनकी 'पदावली' में स्थान-स्थान पर मिलता है। हिंदी में इनकी तुलना के लिए केवल सूरदास ही मिलते हैं। इसमें संदेह नहीं कि सूरदास ने यौवन-लीला के साथ-साथ बाल-लीला का भी वर्णन किया है। अतः उनका क्षेत्र विद्यापति से विस्तृत है। पर

यौवन-लीला के जो पद उनके 'सागर' में पाये जाते हैं उनके देखने से यह साफ पता चल जाता है कि सूरदासजी ने जितना ध्यान विस्तार पर रखा है उतना ध्यान सूक्ष्मता पर नहीं। चाहे उनका रूप-वर्णन उठा लीजिए, चाहे भावाभिव्यंजन, सभी जगह अधिक-से-अधिक चेष्टाओं, मुद्राओं, कार्य-व्यापारों और उक्तियों के समाहार की ओर ही उनकी अंतर्दृष्टि लगी रही है। कहीं-कहीं भावों की सूक्ष्मता भी व्यंजित होती है; पर उनमें वह सूक्ष्मता नहीं दिखाई देती जो विद्यापति में पायी जाती है। चेष्टाओं, मुद्राओं और कार्य-व्यापारों की जैसी छटा हमें विद्यापति में दिखाई देती है वैसी सूरदास में नहीं। इसका कारण भी है। सूरदास-जी की बंद आँखें फिर वह छटा न देख सकीं जिसे उन्होंने बंद होने के पहले देखा था। अंतर्दृष्टि के बल पर मुद्राओं की सूक्ष्मता का वैसा निरूपण करने में वे असमर्थ थे, पर विद्यापति की कवि-दृष्टि ने अपनी खुली आँखों से जो कुछ देखा और अपनी अंतर्दृष्टि से जैसी मूर्ति बनायी उसमें बाह्य और अभ्यंतर का सम्यक् योग होने के कारण बहुत ही मनोहर प्रतिमा संघटित की जा सकी। भावों के संबंध में भी ऐसी ही बात समझनी चाहिए। सूरदासजी ने वेदना की विवृति करने में अपनी शक्ति का बहुत अच्छा परिचय दिया है; पर विद्यापति ने, जहाँ तक दांपत्यरति का संबंध है, उनसे भी बढ़कर अपनी शक्ति दिखलायी है। सूरदास-जी यहाँ भी वेदना की विवृति के लिए अनेक मार्ग, अवसर, प्रसंग आदि के अनुसंधान और उनका विधान करने में संलग्न दिखाई देते हैं और विद्यापति ने उस वेदना की गहराई, उसकी बढ़ी-चढ़ी अनुभूति, हृदय और शरीर पर उसकी तीव्रता के कारण पड़नेवाले प्रभाव का एक-एक विवरण के साथ उल्लेख किया है। इसलिए इस दृष्टि से जब विचार किया जायगा तो मानना पड़ेगा कि विद्यापति का जोड़ हिंदी में नहीं, वे इस दृष्टि से अद्वितीय हैं।

वर्ण्य विषय को छोड़ जब कला-पक्ष की योजना पर विचार करते हैं तो स्पष्ट जान पड़ता है कि सूरदासजी ने अप्रस्तुतों के विधान में भाव

का विचार कहीं-कहीं छोड़कर रस-विरोध उपस्थित कर दिया है और स्थान-स्थान पर अप्रस्तुतों का ढेर लगाकर प्रस्तुत को छोप रखा है। विद्यापति में ये दोनों ही बातें नहीं हैं, न तो उन्होंने रसविरोधी उपमान रखे हैं और न अप्रस्तुतों का ढेर लगाकर वर्ण्य को ढका ही है। इसलिए सूरदासजी इस दृष्टि से भी विद्यापति की समता नहीं कर सकते। बिहारी आदि कवियों की प्रशंसा भाव-पक्ष और कला-पक्ष की समान योजना के कारण बहुत अधिक की जाती है। पर बिहारी में विरह की जो ऊहात्मक उक्तियाँ पायी जाती हैं और वस्तु-व्यंजना के लिए जो पद्धति ग्रहण की गयी है वह अच्छी नहीं कही जा सकती। विद्यापति में ये बातें नहीं हैं। दृष्टिकूट के जो पद उन्होंने कहे हैं वे उनकी प्रमुख शृंगारी रचना से एकदम पृथक् हैं। ऐसे भद्दे अलंकारों को लेकर अपने मुख्य वर्ण्य विषय को केशव आदि की भाँति एकदम नहीं छोड़ दिया है।

भाषा का विचार करें तो सूरदासजी की भाषा में क्या, हिंदी के किसी कवि की भाषा में वैसा माधुर्य नहीं पाया जाता जैसा विद्यापति की भाषा में मिलता है। शृंगार के अनुकूल माधुर्य की योजना करके उन्होंने अपने सच्चे कवि-हृदय का परिचय दिया है। विद्यापति को 'देसिल बअना' विशेष प्रिय था। इस देशी वाणी को उन्होंने अधिकतर अपने प्रकृत रूप में ही लाने का प्रयत्न किया है। संस्कृत की पदावली की यथास्थान योजना अवश्य हुई है, पर उसका वैसा अतिरेक नहीं है कि उसे हम संस्कृत-प्रधान कह सकें। जायसी ने अवधी के ठेठ स्वरूप की मिठास तो रखी, पर उचित संस्कृत-पदावली के मेल के बिना उनकी भाषा साहित्यिक नहीं हो पायी है। तुलसीदासजी ने उसे साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया। पर उनकी पदावली कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक संस्कृतारूढ़ हो गयी है। जैसे 'चंद्रहास हर मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं।' पर विद्यापति ने पदावली को न तो एकदम ठेठ भाषा में ही रहने दिया हैं और न उसमें संस्कृत का आवश्यकता से अधिक मेल करके ही बिगाड़ दिया है। संस्कृत-पदावली यथावश्यक ही आयी है। देखिये—

कर-युग पिहित पयोधर अंचल
चंचल देखि चित भेला
हेम कमलन जनि अरुनित चंचल
मिहिर-तरे निंद गेला

इस प्रकार भाव, शैली और भाषा के विचार से विद्यापति हिंदी के सभी कवियों से अपनी पृथक् विशेषताएँ रखते हैं और शृंगार के क्षेत्र में जहाँ तक सूक्ष्म भावव्यंजना और भावों की मधुर पीठिका का संबंध है वे अद्वितीय ठहरते हैं। उनकी यह उक्ति सचमुच ठीक है—

बालचंद बिज्जावइ-भासा
दुहुँ नहिं लग्गइ दुज्जन हासा
ओ परमेसुर हर सिर सोहइ
ई निच्चय नाअर-मन मोहइ

'नाअर' (सहृदय) का मन उनकी रचना न जाने कब से मोहती चली आ रही है और न जाने कब तक मोहती रहेगी।

पदावली

१

नंद क नंदन कदंब क तरु-तर
धिरे धिरे मुरलि बजाव ।
समय संकेत-निकेतन बइसल
बेरि बेरि बोलि पठाव ।।
सामरि, तोरा लागि
अनुखन बिकल मुरारि ।
जमुना क तिर उपबन उदबेगल
फिरि फिरि ततहि निहारि ।।
गोरस बेंचए अबइत जाइत
जनि जनि पुछ बनमारि ।
तोहे मति मान, सुमति, मधुसूदन,
बचन सुनह किछु मोरा ।।
भनइ विद्यापति सुन बर जौवति
बंदह नंद किसोरा ।।

नंद क नंदन = नंदराय के पुत्र । क=के । तरु-तर = वृक्ष के नीचे । बजाव - बजाता है । समय = (निर्दिष्ट) समय पर । संकेत-निकेतन = संकेतस्थल, प्रिय-प्रेमी का मिलन-स्थान । बइसल = बैठा हुआ । बेरि बेरि = बारंबार । बोलि पठाव = वेणुवादन के द्वारा प्रेमिका को बुला रहा है । गीतगोविंद में भी 'मृदुवेणु' की चर्चा है—'नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेणुम्' । सामरि=श्यामा, साँवर गोरी, षोडशवर्षीया नायिका[१] । तोरा लागि=तेरे लिए । अनुखन=अनुक्षण, प्रतिक्षण । मुरारि=मुर नामक राक्षस के शत्रु, श्रीकृष्ण । तिर=तीर पर । उपबन =

---

१. 'श्यामा' के संबंध में कई लक्षण चलते हैं । मल्लिनाथ ने अपने काव्यग्रंथों की टीकाओं में इसका अर्थ 'यौवनमध्यस्था' किया है ।

उपवन में। उदबेगल=उद्विग्न। फिरि फिरि=पुनः पुनः। ततहि=(तत्र) वहीं, उसी स्थान को। गोरस=दूध और दही। बेंचए=बेचने के लिए। अवइत जाइत=आती-जाती (गोपिकाओं से)। जनि जनि=जने जने, प्रत्येक से। पुछ=पूछता है। बनमारि=वनमाली। वनमाला=आजानु वा आपाद-लंबिनी माला वनमाला प्रकीर्तिता। घुटनों या पैरों तक लंबी माला वनमाला कहलाती है। उसे धारण करनेवाले वनमाली। तोहे मति मान=त्वन्मनस्क। तुझमें अपनी मति लीन किये हुए। सुमति=सुन्दर मतिवाली (राधा)। मधुसूदन=मधु नामक राक्षस के नाशक। बचन सुनह=ऐसी बात सुनो। भनइ=कहता है। सुन=सुनो। बर जौवति=श्रेष्ठ युवती। बंदह=बंदो, उसका मन रखो। नंद किसोरा=नंद के किशोर वयवाले पुत्र।

(यह सखी की उक्ति नायिका अर्थात् राधिका के प्रति है) हे श्यामा, नंद का पुत्र कदंब के वृक्ष के नीचे धीरे-धीरे मुरली बजा रहा है। जिस समय संकेत-स्थल पर उपस्थित होना था उस समय वह वहाँ पहुँच गया है और वहाँ बैठकर बारंबार मुरली के द्वारा नाम लेकर (तुझे) प्रेयसी को बुला रहा है। वह मुरारि प्रतिक्षण तेरे लिए व्याकुल है (और तू अभी तक उसके निकट नहीं गयी)। यमुना के तीरवर्ती उस उपवन में वह उद्विग्न होकर पुनः-पुनः उसी ओर देख रहा है जिस ओर से तेरे वहाँ पहुँचने की संभावना है। (तेरे वहाँ न पहुँचने के कारण, देर हो जाने से) वह वनमाली गोरस बेचने के लिए आती-जाती प्रत्येक गोपी से तेरे संबंध में पूछता है। हे सुमति, मधुसूदन श्रीकृष्ण त्वद्गतचेतन हो रहे हैं (उनका चित्त तुझी में लीन है)। (इसलिए मेरी प्रार्थना है कि)

'भट्टिकाव्य' के एक टीकाकार ने यह श्लोक उद्धृत किया है—

शीते सुखोष्णसर्वांगी ग्रीष्मे या सुखशीतला।
तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते॥

'काशिका' के 'साँवर गोरिया' प्रयोग में 'साँवर' का तात्पर्य 'श्यामा' से ही है।

तू मेरी बात कुछ तो सुन ले। हे श्रेष्ठ युवती, सुन (चल) नंदकिशोर की वंदना कर (उनकी व्याकुलता दूर करने का प्रयास कर)।

नंदन='नंदन' का अर्थ है आनंदित करनेवाला। जो स्वयं नंद (आनंदित) है उसे भी आनंदित करता है वह। कदंब=कदंब वृक्ष का उल्लेख होने से वर्षा का समय सूचित है। धिरे-धिरे=धीरे-धीरे मुरली बजाने का प्रयोजन है। मुरली-वादन उद्देश्य नहीं है। मुरली के द्वारा किसी को बुलाना प्रयोजन है। इसी से मंद ध्वनि या मंद गति से वादन हो रहा है। संकेत-स्थल पर पहुँच जाने से संभावना होगी कि प्रेयसी आ गयी होगी या आ रही होगी, उसकी दूरी अधिक नहीं है अतः मंद ध्वनि से ही काम बन जायगा। बइसल पहले चाहे खड़े रहे हों, पर अब बैठ गये हैं। उन्होंने समझ लिया है कि प्रेमिका के आने में कुछ विलंब है। बेरि बेरि-बारंबार इसलिए कि यदि एक बार वेणुवादन रुक गया तो प्रेमिका आकर भी समझेगी कि प्रिय नहीं आया है। 'बेरि बेरि' से नैरंतर्य भी सूचित हो सकता है। मुरली का बजना बंद ही नहीं होता और उसके द्वारा बारंबार प्रेयसी को ही पुकारा जा रहा है। बोलि पठाव=मुरली द्वारा बुला भेज रहे हैं, मैं (सखी) भी तुझे बुलाने के ही प्रयोजन से आयी हूँ। सामरि-श्यामा के प्रति श्याम का व्याकुल होना उचित ही है। मुरारि शौर्यशाली होकर भी तेरे लिए उनकी व्याकुलता है। मुर के मारने में व्याकुल नहीं हुए, पर तेरे लिए व्याकुल हैं। जमुना०-प्रेमिका को आते न देखकर वे उद्विग्न होकर उसके आगमन-मार्ग की ओर तो देखते ही हैं, संकेत-स्थल में आने-जानेवाले पथ के निकट भी पहुँच जाते हैं तभी तो गोरस बेचनेवालियों से पूछते हैं। निहारि=ध्यान से देखते हैं। अवइत जाइत आनेवालियों से ही नहीं, जानेवालियों से भी पूछते हैं। आनेवालियों से उसके आने के संबंध में पूछते हैं। आती है, आ रही है, आनेवाली है आदि। जानेवालियों को संदेश देते हैं। उसके शीघ्र आने के संबंध में कुछ कहते हैं। तोहें०=तू संमति है और उनकी मति तुझमें समायी है। जो मधु के सूदन में अपनी मति नहीं खो सके उनकी मति

तुझमें खो गयी। बचन०=किसी के वचन तूने नहीं सुने। मेरे वचन चाहे सब न सुन, पर कुछ तो सुन ले। जाकर उन्हें अपनी एक झलक तो दे आ। बंदह०=जो नंद (आनंदित) के किशोर हैं उनके वंदन से भी आनंद ही आनंद है।

२

देख देख राधा रूप अपार
अपुरुब के बिहि आनि मिलाओल
खिति-तल लावनि-सार
अंगहि अंग अनंग मुरछाइल
हेरए पड़ए अथीर
मनमथ कोटि-मथन करु जे जन
से हेरि महि-मधि गीर
कत कत लखिमी चरन-तल ने ओछए
रंगिनि हेरि बिभोरि
करु अभिलाख मनहि पद पंकज
अहोनिसि कोर अगोरि

रूप=सौंदर्य। अपुरुब=अपूर्व, जैसा पहले न हुआ हो। बिहि=विधि, विधाता, स्रष्टा। आनि मिलाओल=ला मिलाया, ला दिखाया। खिति-तल=पृथ्वीतल, भूतल। खिति=क्षिति। लावनि=लावण्य, सौंदर्य। सार=तत्त्व। खिति०=पृथ्वीतल में ऐसा सौंदर्य अपूर्व है, यहाँ के सौंदर्यों का वह तत्त्व है। अंगहि०=प्रत्येक अंग के सौंदर्य पर। अनंग=अनंग, कामदेव। हेरए=देखते ही। पड़ए अथीर=अस्थिर पड़ जाते हैं, चंचल हो जाते हैं। कामदेव अंग-अंग की शोभा देखकर मूर्छित हो जाता है। तुझे देखते ही सौंदर्याभिभूत होकर चंचल हो जाता है। मनमथ=कामदेव। कोटि=करोड़। मथन=मथन करनेवाले, पराजित

करनेवाले। जे=जो। जन=व्यक्ति। से=सो, वह। महि=पृथ्वी। मधि=मध्य, में। गोर-गिर पड़ता है। जो करोड़ों कामदेव को भी अपने सौंदर्य से पराजित करनेवाला है वह (श्रीकृष्ण) तेरे सौंदर्य को देखकर मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है। कत-कत-कितनी ही, बहुत, अनेक। लखिमी लक्ष्मी। चरन-तल-पदतल। रंगिनि= रंगवाली, सौंदर्यवाली, सुंदरी। हेरि=देखकर। विभोरि=विभोर अर्थात् बेसुध हो। मनहि-मन में। पद पंकज=पद-कमल को। अहोनिसि= अहर्निश, दिन-रात, सदा। कोर=क्रोड़, गोद। अगोरि=ध्यान-पूर्वक रखे।

(भक्त की राधा के रूप-सौंदर्य पर उक्ति मन के प्रति) देखो, राधा के अपार सौंदर्य को देखो। ब्रह्मा ने इस पृथ्वीतल पर यह अपूर्व सौंदर्य उत्पन्न किया है। वह लावण्यतत्त्व के रूप में दिखाई देती है (पृथ्वी पर जितने सौंदर्य हैं, सब उसी से विकसित हैं)। उनके एक-एक अंग की शोभा ऐसी है कि अनंग उसे देखकर मूछित हो जाता है; क्योंकि उसके पास ऐसा सौंदर्य नहीं है। वह तो देखते ही चंचल हो जाता है (उसके पैर डगमगाने लगते हैं)। मन्मथ ही उनके सौंदर्य से मूछित नहीं होता, (प्रत्युत) जो करोड़ों मन्मथों के सौंदर्य-मद का मथन करनेवाले हैं वे श्रीकृष्ण भी उनके सौंदर्य को देखकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, मूछित हो जाते हैं। यदि कोई कहे कि लक्ष्मी में, जो शोभा की अधिष्ठात्री देवी हैं, कदाचित् सौंदर्य अधिक हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि उस सुंदरी राधा के सौंदर्य को देखकर वह भी बेसुध हो जाती है। इसलिए यही कह सकते हैं कि उनके चरणतल पर कितनी ही (अनेक) लक्ष्मी को निछावर किया जा सकता है। ऐसी सौंदर्यमयी राधा के, जो विश्व-रमणीयता की उत्स है, संबंध में मन में यही अभिलाष होता है कि दिन-रात उनके चरण-कमल को ध्यानपूर्वक वह अपने क्रोड में रखे। मन निरंतर उन्हीं की विमुग्ध भाव से स्मृति करता रहे, यही कामना है।

अपार=शोभासागर में भी पार की संभावना है, पर यह सौंदर्य तो

अपार शोभा-सागर है। अपुरुब=अपूर्व से पृथ्वी के पूर्वकाल की ओर ही संकेत नहीं है। उसे अलौकिक बताना प्रयोजन है, पृथ्वीतल पर ऐसा सौंदर्य था नहीं, वह दिव्य सौंदर्य यहाँ लाया गया। लावनि लावण्य और माधुर्य दो सौंदर्य के साथ आते हैं। लावण्य में भिदने की शक्ति अधिक होती है। अंग=अंग० और अनंग में विरोध-वैलक्षण्य भी है। मनमथ=मन को मथनेवाला। जो न जाने कितने मनों को मथनेवाला है। गीर=दूध-दही को मथनेवाला खड़ा रहता है। मथनेवाले के साथ न गिरने का भाव प्रबल है, वह भी गिर जाता है।

व्याकरण—अपुरुब—अपूर्व को। 'के' 'को' के अर्थ में है। जे=जो। मागधी की एकारांत प्रवृत्ति जो सर्वनाम में सुरक्षित रह गयी है। ऐसे ही 'से' 'सो'। शौरसेनी की ओकारांत प्रवृत्ति है, इससे वहाँ जो-सो रूप चलते हैं, लघु उच्चारण होने पर जु-सु।

इस पद में 'विद्यापति'-भणिता या छाप नहीं है।

२

जय जय भैरवि असुर-भयाउनि
पसुपति भामिनि माया
सहजे सुमति बर दिअओ गोसाउनि
अनुगति गति तुअ पाया
बासर-रैनि सबासन सोभित
चरन चंद्रमनि चूड़ा
कतओक दैत्य मारि मुह मेलल
कतओ उगिल कल कूड़ा
सामर बरन, नयन अनुरंजत
जलद-जोग फुल कोका
कट कट बिकट ओठ-पुट पाँड़रि
लिधुर-फेन उठ फोका

घन घन घनए घुघुर कत बाजए,
हन-हन कर तुअ काता
बिद्यापति कबि तुअ पद सेवक
पुत्र बिसरु जनि माता

पसुपति=महादेव । दिअओ=दो । गोसाउनि=गोस्वामिनी । अनुगति = अनुगामी । गति=मोक्ष, अंतिम सहारा । बासर-रैनि = दिन-रात । सवासन -(शव+आसन) लाश पर आसन । चंद्रमनि - चंद्रकांत मणि । चूड़ा=कड़ा; सिर । कतओक - कितने ही । कूड़ा कैल =कूड़े-करकट का ढेर कर दिया । कोका =कमल । पाँड़रि=एक लाल फूल । लिधुर = रुधिर । फोका=बुद्बुद । काता -(कत्ता) कटार ।

यह देवी (चामुंडा) की स्तुति है । उनका आह्वान करते हुए कवि कहता है कि आप असुरों को त्रास पहुँचानेवाली, (हमारे आराध्यदेव) महेश की प्यारी स्त्री और माया (आदिशक्ति) हैं । मुझे आप ऐसी सहज बुद्धि दें जिससे वह आपके चरणों को ही अनुगति गति (जीवन का साधन-साध्य) सब समझे । उसे छोड़कर इधर-उधर न भटके । ये चरण चंद्रकांत-मणि-मंडित कड़े को धारण किये हुए सदा रात-दिन लाश के आसन पर विराजते हैं अर्थात् सदा असुरों के विनाश में ही लगे रहते हैं । कितने असुरों को तो आप यों ही निगल गयी हैं, कितनों को चबा-चबा-कर कूड़ा कर दिया है । आपके साँवले शरीर में लाल-लाल आँखें ऐसी मालूम होती हैं मानों बादल में कमल फूले हों । पाड़री फूल के समान लाल होठों के बीच कटकटाते दाँत ऐसे लगते हैं मानों फेनिल रक्त के बुद्बुद हों । चलने में पैर के घुँघुरु घनघनाते हैं और कटार हन-हन करती है । (इस विनाशकारी काम में लीन होने से कवि को संदेह होता है कि वे अपने दाक्षिण्य को भूल न जायँ, इसलिए प्रार्थना करता है कि) माता, मुझे भुलाना नहीं ।

१—आह्वान में जितने संबोधन हैं सब सार्थक हैं, विघ्नों को दूर करने के लिए 'भैरवि असुर-भयाउनि', वात्सल्य के लिए 'पसुपति-भामिनी',

(अपने आराध्यदेव महेश की पत्नी) इंद्रियों को वश में करने के लिए 'गोसाउनि' (गो=इंद्रिय+साउनि=स्वामिनी) का प्रयोग हुआ है ।

२—'सवासन' का अर्थ महादेव और 'चूड़ा' का अर्थ सिर भी हो सकता है । तब 'बासर-रैनि''''चूड़ा' का अर्थ होगा रात-दिन महादेव आपके चरणों के नीचे पड़े रहते हैं और चंद्रकांत मणि सिर से लटकती रहती है ।

४

सेसव जौबन दरसन भेल,
दुहु दल-बले दंद परिगेल ।
कबहु बाँधय कच कबहु बिथारि,
कबहु झाँपय अँग कबहु उघारि ।
....
....

चंचल चरन चित चंचल भान,
जागल मनसिज मुदित नयान ।
....

चरन चपल गति लोचन पाव,
लोचन क धैरज पदतल जाव ।
....

सुनइत रस-कथा थापए चीत,
अइसे कुरंगिनी सुनए सँगीत ।
सैसव जौवन उपजल बाद,
केओ न मानए जय अवसाद ।
बिद्यापति कौतुक बलिहारि,
सेसव से तन छोड़नहिं पारि ।

दंद = (द्वंद्व) युद्ध। परि गेल=ठन गया। कच =बाल। बिथारि = बिखेर देती है। झाँपय = ढकती है। भान =प्रतीत होना। मुदित = प्रसन्न। नयान = (नयन) नेत्र। धैरज = (धैर्य) मंदता, मंथरता। थापए = (स्थापित करती है) लगाती है। रस-कथा = प्रेमवार्ता। कुरंगिनी = हरिणी। उपजल बाद = झगड़ा चल पड़ा। केओ = कोई। अवसाद = थकावट, पराजय। से = उसका।

नारी के कामिनी-रूप का प्रारंभ वय:संधि (बाल्यावस्था की समाप्ति और यौवनावस्था के प्रारंभ) से समझना चाहिए। इस स्थिति में उसमें विलक्षण परिवर्तन होते हैं—केवल रूप में ही नहीं, भाव और मुद्राओं में भी। यहाँ पर कवि ने उसी का बहुत ही स्वाभाविक निरूपण किया है—

शैशव हटा नहीं था कि नायिका के शरीर में यौवन ने प्रवेश किया। एक के रहते दूसरे का आधिपत्य रह नहीं सकता था। अत: भेंट होते ही दोनों में युद्ध छिड़ गया। एक दूसरे को निकालने लगा। पर जो पहले से ही जमा है वह कैसे जाय और वह न जाय तो दूसरा पैर कैसे जमाये। फलत: नायिका न तो अपनी पुरानी आदतों का पूर्णतया त्याग कर पाती है और न नयी का ग्रहण। कभी वह अपने केश सँभालकर बाँधती है, पर जैसी परवा चाहिए वैसी नहीं कर पाती। अत: बाल पुन: बिखर जाते हैं। सयानी होने से जो स्वाभाविक लज्जा आ गयी है उसके कारण वह वस्त्र से अपने अंग ढकती है। पर शीघ्र ही उसका मूलगत लड़कपन उसे असावधान कर देता है और वे पुन: उघड़ जाते हैं। बालपन की चपलता थी ही, अब उसका चित्त भी उड़ा-उड़ा रहता है। पहले पैर स्थिर नहीं रहते थे। अब ऐसा प्रतीत होता है कि चित्त स्थिर नहीं है। यौवन के कारण नेत्रों से प्रसन्नता छलकी पड़ती है। चरणों की चंचलता नेत्रों ने ले ली है और नेत्रों की मंथरता पैरों में आ गयी है। मन की स्थिति भी बदल गयी है। अब प्रेम-वार्ता सुनने में उसका मन बहुत जमता है। वह उसे सुनने में वैसी ही मुग्ध हो जाती है जैसी हरिणी संगीत सुनकर मोहित होती है। बालपन और यौवन में कौन घटकर है यह कहना बहुत कठिन

है। बलिहारी है इस द्वंद्व की। कुछ भी हो, अंत में शैशव को उसका शरीर छोड़ना ही पड़ेगा।

५

खने खन नयन कोन अनुसरई
खने खन बसन धूलि तनु भरई।
खने खन दसन छटा छुट हास
खने खन अधर आगे गहु बास।
चउंकी चलए खने खन चलु मंद
मनमथ पाठ पहिल अनुबंध।

....

....

बाला सैसव तारुन भेट
लखए न पारिअ जेठ कनेठ।
विद्यापति कह सुन बर कान
तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान।

खने खन = (क्षण क्षण) बार-बार। कोन अनुसरई = कोण का अनुसरण करते हैं। बसन = वस्त्र। दसन = दाँत। हास = हँसी। बास = वस्त्र। अनुबंध = ठहराव, समझौता। तारुन = (तारुण्य) जवानी। कनेठ = (कनिष्ठ) छोटा। तरुनिम = जवानी। कान = (कान्ह) कृष्ण। बर=श्रेष्ठ।

बालिका की शैशव-सुलभ चपलता के साथ-साथ यौवन-सुलभ लज्जा का प्रादुर्भाव हो गया है। उन दोनों का प्रभाव उसपर पड़ता है, जिसके कारण उसकी विचित्र दशा है। उसके शैशव और यौवन में भेद करना तो कठिन है ही, साथ ही यह भी नहीं बतलाया जा सकता कि किसकी प्रबलता है—कौन जेठा है, कौन छोटा। देखिये न—कभी तो उसकी

की=क्या। बिहि=(विधि) ब्रह्मा। पल्लबराज=कमल। भाने= प्रतीत होती है; भंजन करती हैं। सन=ऐसा। दसन दाँत। बिजु= (बीज) दाने। उगथिक=उदय हुए हैं। सारंग-हरिण; कोयल; कमल; कामदेव; भौंरा। तसु=उसका।

काव्य में विभाव और भाव अन्योन्याश्रित हैं। अब जहाँ कवि को मन में कोई भाव उठाना या उठे हुए भावों को जगाना अभीष्ट होता है वहाँ वह विभाव—आलंबन—का रूपविधान अवश्य करता है। इसके लिए कविपरंपरा नायिका का नख-शिख-वर्णन करती चली आयी है। विद्यापति प्रेम की प्रतिष्ठा करने के लिए नायिका का नख-शिख-वर्णन करते हैं, सुंदरी के रूप का वर्णन क्या किया जाय। उसके स्वरूप को आँखों देखा है। (वह साधारण नहीं है) ब्रह्मा ने न जाने कितने उपाय से उसकी सृष्टि की है। उसके दोनों चरण तो कमल के समान शोभित हैं, किंतु गति ऐसी मस्तानी है कि गजेंद्र भी लज्जित हो जाय (अथवा गति हाथी की चाल के समान है)। जाँघों और कमर के लिए क्या कहें, वे तो और भी आश्चर्यजनक हैं। उन्हें देख ऐसा प्रतीत होता है मानों सोने के केले के स्तंभ पर सिंह बैठा हो। वक्ष-स्थल देखकर लगता है कि सिंह पर पर्वत बैठा है। होंठ बिंबाफल के समान लाल हैं। दाँत अनार के दानों के समान सुडौल और उज्ज्वल हैं। सूर्य और चंद्रमा एक साथ उदित नहीं होते पर नायिका के लाल होठों और उज्ज्वल दाँतों को (अथवा लाल-बिंदुयुक्त मुख को) देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य-चंद्र का एक साथ उदय हुआ है। इसी लिए राहु (केश) जो दूर रहते हैं, उनका ग्रास नहीं करते। (अब सारंग का चमत्कार देखिए)। कहीं वे मृग बन जाते हैं जिनके नेत्रों के समान उनके नेत्र चंचल हैं। (कहीं सारंग कोकिल हो जाता है जब वाणी की तुलना में आता है।) उसकी वाणी कोकिल की बोली के समान मीठी है। उसका कटाक्ष सारंग (बाण) का काम करता है। सारंग के ऊपर (कमल=नेत्र) दो सारंग (भौंरे=पुतलियाँ) बैठे हैं और कमल-रस-पान कर रहे हैं।

७

चाँद-सार लए मुख-घटना करु
लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोछलि
दह दिसि भेल उँजोरे।
कामिनी कोने गढ़ली।
रूप सरुप मोयँ कहइत असँभव
लोचन लागि रहली।
गुरु नितंब भरे चलए न पारए
माझ-खानि खीनि निमाई।
भागि जाइत मनसिज धरि राखलि।
त्रिबलि-लता अरुझाई।
भनइ विद्यापति अद्भुत कौतुक
ई सब बचन सरूपे।
रूपनरायन ई रस जानथि
सिवसिंघ मिथिला भूपे :

चाँद-सार=चंद्रमा का सारभूत अंश। धनि=बाला, नायिका। दह=(दस)। माझ-खानि=मध्यभाग में। खीनि=(क्षीण) पतली। निमाई=निर्मित की।

अंगों के वर्णन के उपरांत विद्यापति नायिका की अलौकिक कांति या आभा का वर्णन करते हैं। (ब्रह्मा ने) उस नायिका के मुख की रचना चंद्रमा के सारभूत अंश को लेकर की है। (इसे पृथ्वी पर देखकर) चकोर की आँखें चकित हो गयीं। उसकी विश्वव्यापिनी आभा का अनुमान इससे किया जा सकता है कि उसने अपने मुख को अंचल से

पोंछकर अमृत बहाया तो दसों दिशाओं में प्रकाश हो गया—चाँदनी चमक उठी। न जाने इसकी रचना किसने की है। (जिस अंग पर नेत्र पड़ते हैं वे वहीं उलझ जाते हैं—उसे देखने में अघाते ही नहीं हैं। फिर उसका वर्णन कैसे किया जाय) उसका वर्णन करना असंभव है। मध्य-भाग (कटि) बहुत ही क्षीण है, नितंब बहुत बड़े हैं। फलतः गति बहुत ही मंथर है, वह चल ही नहीं पाती। कटि तो अलग ही हो जाती, पर कामदेव ने उसे त्रिबली-लता से बाँध रखा है। इस सब विचित्र खेल और वचनचातुरी को सब नहीं समझ सकते। इस रस को तो मिथिला-नरेश रूपनारायण शिवसिंह ही जानते हैं।

८

कबरी-भय चामरि गिरि-कंदर
मुख-भय चाँद अकासे
हरिन नयन-भय सर-जय कोकिल
गति-भय गज बनबासे
सुन्दरि, किए मोहि सँभासि न जासि
तुअ डर इह सब दूरहि पलायल
तुहुँ पुन काहि डरासि

....

....

भुज-भय पंक मृनाल नुकाएल
कर-भय किसलय काँपि
कवि-सेखर भन कत कत ऐसन
कहब मदन परतापे।

कबरी=केश। चामरि=सुरा-गाय (जिसकी पूँछ के झब्बे के चमर बनते हैं)। सर=स्वर। सँभासि=बातचीत करके। किए=क्यों। पलायल=भाग गये। मृनाल=कमलनाल। नुकाएल=छिप गया।

(पिछले पदों में कवि ने जिस अद्भुत रूप की योजना की है उसके प्रभाव का वर्णन इस पद में किया गया है। जैसा अद्भुत स्वरूप, जैसी विचित्र आभा, वैसा ही उसके सुंदर अंगों का प्रभाव।) नायिका के केश इतने सुंदर हैं कि सुरा-गाय हार के भय से पहाड़ों की कंदरा में छिपकर रहने लगी। मुख की समता चंद्रमा न कर सका, इसलिए उसने यह लोक ही छोड़ दिया और आकाश में रहने लगा। उसके नेत्रों के भयवश हिरन, स्वर के भय से कोयल तथा चाल से डरकर हाथी वन में रहने लगे। भुजाओं के डर से मृणाल कीचड़ में छिप गये और हाथों के डर से नवीन कोमल पत्ते थर-थर काँपने लगे। (हिरन उसके नेत्रों की, कोयल उसकी मीठी बोली की, मृणाल भुजाओं की कोमलता की तथा किसलय उसके पतले-चिकने हाथों की समता न कर सके)।

(स्वाभाविक लज्जा के कारण नायिका नायक से बातचीत नहीं कर पाती। उसपर नायक कहता है—) रे सुंदरी, तुम्हारे डर से तो तुम्हारे सारे प्रतिद्वंद्वी दूर भाग गये हैं। फिर तुम किससे डर रही हो? मुझसे बातचीत करके क्यों नहीं जाती?

यह सब दशा देखकर कविशेखर (विद्यापति) कहते हैं कि मदन का प्रताप (जिसके कारण नायिका की विजय हुई है) कितना कहा जाय। (इस विषय में जो कुछ कहा जाय सब थोड़ा है)।

उपमानों के परोक्ष कारणों को प्रकृत रूप में समक्ष रखकर कवि ने रूप के उत्कर्ष की बड़ी हृदयग्राही व्यंजना की है।

९

रामा अधिक चंगिम भेल।
कतने जतन कत अदबुद, बिहि बिहि तोहि देल।
सुन्दर बदन सिंदुर-बिंदु, सामर चिकुर भार।
जनि रबि-ससि संगहि उगल पाछ कय अंधकार।

चंचल लोचन बाँक निहारए अंजन सोभा पाय।
जानि इंदोबर पवन-पेलल अलि भरे उलटाय।

रामा=सुंदर स्त्री। चंगिम=कांतिमयी। भेल=हुई। अदबुद=(अद्भुत) विचित्र। बिहि=विधि। बिहि=प्रकार। सामर=(श्यामल) काला। चिकुर=बाल। ऊगल=उदित हुआ। बाँक=तिरछा। पवन-पेलल=हवा द्वारा प्रेरित (चंचल किया हुआ)। अलि-भरे=भौंरों से बोझिल।

१०

आज मझु सुभ दिन भेला।
कामिनि पेखल सनान क बेला।

चिकुर गरए जलधारा।
मेह बरिस जनु मोतिम हारा।

बदन पोंछल परचूरे।
भाजि धएल जनि कनक-मुकूरे।

....

अलकहिं तीतल तैं अति सोभा।
अलिकुल कमल बेढ़ल मधुलोभा।

नीर निरंजन लोचन राता।
सिंदुर-मँडित जनि पंकज-पाता।

सजल चीर रह पयोधर-सीमा।
कनक-बेल जनि पड़ि गेल हीमा।

ओ नुकि करतहि चाहि किए देहा।
अबहि छोड़ब मोहि तेजब नेहा।

ऐसन रस नहि पाओब आरा।
इथे लागि रोइ गरए जलधारा।

मझु = मेरे लिए। भेला = हुआ। देखल = देखा। सनान = (स्नान)। बेला = समय। चिकुर = केश। गरए = गिरती है। बदन = मुख। परचूरे = (प्रचुरता से) अच्छी तरह। कनक-मुकूरे = सोने का दर्पण। अलक = बाल। तीतल = गीले। अलिकुल = भ्रमर-समूह। बेढ़ल = बढ़े, इकट्ठे हो गये। निरंजन = अंजनहीन। राता = लाल। पयोधर-सीमा = सीने पर। कनक-बेल = सोने की बेल। हीमा = (हिम) बर्फ। ओ = वह (वस्त्र के लिए सर्वनाम)। नुकि = छिपाना। किए= क्यों। आरा = (और) अन्यत्र। इथे = इसलिए।

(नायक ने नायिका को स्नान करते हुए देखा है। उस सद्यः-स्नाता की छबि का जो प्रभाव उसके हृदय पर पड़ा है उसी का वर्णन नायक कर रहा है। वह कहता है कि आज का दिन कितना शुभ था कि मैंने उसे स्नान करते समय देखा। उसके बालों से जो पानी की बूँदें गिर रही थीं ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों बादलों से मोती चू रहे हों। जब उसने अच्छी तरह से मुँह का पानी पोंछ डाला तो ऐसा लगा मानों स्वच्छ किया हुआ सुवर्ण का दर्पण हो। गीले बाल ऐसे लगते थे मानों मधु के लोभ से भ्रमरों का समूह कमल में एकत्र हो गया हो (मुँह कमल के समान है और बिखरे केश भौंरों का समूह है)। पानी से नेत्र का काजल धुल गया था और आँखें लाल पड़ गयी थीं इसलिए वे ऐसी दिखलाई पड़ती थीं मानों सेंदुर से रँगे कमल-दल हों। वक्षस्थल पर भींगी हुई साड़ी ऐसी लगती थी मानों स्वर्ण-बेल पर बर्फ पड़ गया हो। (गीली होने के कारण वह चिपटती ही चली जा रही थी और उससे पानी टपक रहा था। अब प्रश्न यह होता है कि वह ऐसा क्यों कर रही थी ?) वह देह क्यों छिपाना चाहती थी ? ऐसा प्रतीत होता है कि वह डर रही थी कि उसे नायिका अभी उतार देगी। वह उसके प्रेम से वंचित हो जायगी। इसी लिए वह रो रही थी कि उसे इतना रस कहाँ मिलेगा (जब वह उसे अलग कर देगी)।

पुराने समय में दर्पण धातु के ही बनते थे। वे इतने चमकीले कर दिये जाते थे कि प्रतिबिंब बनने लगता था।

११

नहाइ उठल तीर राइ कमलमुखि
समुख हेरल बर कान
गुरुजन संग लाज धनि नतमुखि
कइसन हेरब बयान
सखि हे, अपरुब चातुरि गोरि।
सब जनि तेजि कए अगुसरि संचरि
आड़ बदन तँहि फेरि
तँहि चुन मोतिहार तोरि फेकल
कहइत हार टुटि गेल
सब जन एक-एक चुनि संचरु
स्याम दरस धनि लेल
नयन-चकोर कान्ह-मुख ससिबर
कएल अमिय - रस - पान
दुहु दुहु दरसन रसहु पसारल
कबि बिद्यापति भान

राइ = राधा। हेरल = देखा। कान = (कान्ह) कृष्ण। बयान = (बदन) मुख। अपरुब = अपूर्व। तेजि = (त्यजि) त्यागकर। अगुसरि = (अग्रसर) आगे। संचर = (संचरण) चलकर। तोरि फेंकल = तोड़कर फेंक दिया। लेल = लिया। संचरु = संचित किया। धनि = बाला। दुहु = दो। रस = प्रेम।

राधिका की चतुरता का वर्णन राधिका की एक सखी दूसरी से करती हुई कहती है) कमलमुखी राधिका स्नान करके जैसे ही नदी के

किनारे आयी वैसे ही उसकी दृष्टि सामने खड़े कृष्ण पर पड़ी। गुरुजन साथ में थे। (अतः कृष्ण को लज्जा के कारण देख न सकी) लजाकर सिर नीचे कर लिया। फिर किस प्रकार कृष्ण के मुख को देखे? हे सखी, वह बहुत चतुर है। (अतः उपाय निकाल लिया) सबको छोड़कर वह आगे निकल गयी (मानो उसका कृष्ण से सरोकार ही न हो); ओट में जाकर कृष्ण की ओर मुख किया (ऐसे स्थान को चुनकर खड़ी हो गयी जहाँ से कृष्ण साफ दिखलाई दें)। अपनी मोतियों की माला को तोड़कर मोती बिखरा दिये और जोर से चिल्लाने लगी—'मेरा हार टूट गया।' सब लोग मोतियों का संचय करने में लग गये और बाला श्रीकृष्ण को देखने लगी। इस प्रकार उनके चंद्रमुख के अमृत को राधिका के चकोर-रूपी नेत्रों ने पान किया। इस पारस्परिक दर्शन से दोनों में रस का प्रसार हुआ।

१२

ससन-परस खसु अंबर रे
देखल धनि देह।
नव जलधर-तर संचर रे
जनि बिजुरी-रेह।
आज देखल धनि जाइत रे
मोहि उपजल रंग।
कनक-लता जनि संचर रे
महि निर-अवलंब।

....

ससन (श्वसन) पवन। परस = (स्पर्श) से। खसु = खिसक गया। अंबर = कपड़ा, वस्त्र। धनि = बाला। जलधर = बादल। तर =

नीचे। रेख=रेखा। रंग=प्रेम। संचर=(संचरण कर रही है) जा रही है। निर-अवलंब=किसी सहारे के बिना।

(प्रथम दर्शन में ही प्रेमोदय—लव ऐट फर्स्ट साइट—बतलाते हुए नायक कहता है) हवा के झोंके से बाला का वस्त्र उसके शरीर से खिसक गया, जिससे उसका कांतिपूर्ण शरीर दिखलाई पड़ा। (पर उसने शीघ्र ही उसे कपड़े से ढक लिया)। वह ऐसा प्रतीत हुआ मानो आँख के सामने बादल में बिजली चमककर पुनः लुप्त हो गयी हो अथवा निराधार स्वर्ण-वल्लरी अचानक दिखलाई पड़ी हो। इससे (उसके रूप के आभास मात्र से—परिज्ञान से नहीं) मेरे हृदय में उसके प्रति प्रेम अंकुरित हो गया है।

नायिका का वस्त्र नीले रंग का है। इसलिए वह नये बादल के समान कहा गया है। नायिका गोरी है इसलिए उसकी तुलना बिजली की रेखा से की गया है। यहाँ नायिका का तन्वंगी होना और वस्त्र सँभालने की शीघ्रता भी व्यंजित है।

१३

ए सखि, पेखलि एक अपरूप,
सुनइत मानबि सपन-सरूप।
　　कमल-जुगल पर चाँद क माल,
　　तापर उपजल तरुन तमाल।
तापर बेढ़लि बिजुरी-लता,
कालिंदी-तट धीरे चलि जाता।
　　साखा सिखर सुधाकर-पाँति,
　　ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति।
बिमल बिंबफल जुगल बिकास,
तापर कीर थीर करु बास।

तापर चंचल खंजन जोर,
तापर साँपिनि झाँपल मोर।

ए सखि रंगिनि कहल निसान,
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन।

अपरूप = विस्मयजनक रूप। कमल-जुगल = दो पैर। चाँद = नख। तमाल = श्याम शरीर। बिजुरी-लता = पीतांबर। साखा-सिखर = बाहुओं के अग्रभाग। सुधाकर-पाँति = नख-समूह। नव पल्लब = हथेली। अरुनक भाँति = लाल। बिंबफल = होंठ। कीर = नाक। खंजन = आँख। जोर = जोड़ा। साँपिनि = केश। मोर = मोरमुकुट।

(श्रृंगार के पूर्ण उत्कर्ष के लिए प्रेम की साम्यावस्था आवश्यक है। अतः जिस प्रकार प्रथम दर्शन से नायक के हृदय में प्रेम का संचार हुआ है उसी प्रकार नायिका के हृदय में भी। नायिका नायक को देखकर कहती है—) हे सखी, मैंने एक विस्मयजनक रूप देखा है। वह इतना विचित्र है कि सुनोगी तो उसे (सत्य न मानोगी), स्वप्न का कल्पित रूप समझोगी। दो कमलों (पैरों) पर चंद्रमा की माला (नख-पंक्ति) और उसके ऊपर हरा-भरा तमाल (श्याम रंग के तरुण शरीर) का वृक्ष लगा था। उसके ऊपर विद्युत्-लता (पीतांबर) लिपटी हुई थी। वह (नायक) यमुना नदी के किनारे मंद गति से चल रहा था। उसकी शाखा (बाँह) के अग्रभाग (अँगुलियों) में चंद्रमाओं की पंक्ति (नख-पंक्ति) थी और उसपर प्रबाल (करतल) था। उसमें दो बिंबाफल (ओष्ठ) विकसित थे। उसपर सुग्गा (नाक) स्थिर होकर निवास कर रहा था। उसके ऊपर दो खंजन पक्षी (चंचल नेत्र) थे। उसके ऊपर नागिन (केशराशि) ने मोर (मोरमुकुट) को पकड़ रखा था। या नागिन को मोर ढके हुए था। हे सखी, यह उस रूप का संकेत मात्र है। इसे ही देखकर मेरा ज्ञान लुप्त हो गया है। (सौंदर्य के पूर्ण प्रत्यक्षीकरण पर न जाने क्या हो)।

'रंगिनि' संबोधन से यह व्यंजित होता है कि सखी प्रेम-कला में निपुण है। अतः वह संकेत मात्र से सब समझ जायगी। कल्पना की विभूति भी द्रष्टव्य है।

१४

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ
बारल लोचल-चोर।
पिया मुख रुचि पिबए धाओल
जनि से चाँद चकोर।
ततहु सयँ हठ हटि मो आनल
धएल चरनन राखि
मधुप मातल उड़ए न पारए
तइअओ पसारए पाँखि।
माधव बोलल मधुर बानी
से सुनि मुँदु मोयँ कान।
ताहि अवसर ठाम बाम भेल
धरि धनू पँचबान।
तनु पसेब पसाहनि भासलि
पुलक तइसन जागु।
चूनि चूनि भए काँचुअ फाटलि
बाहु वलया भागु।
भन विद्यापति कंपित कर हो
बोलल बोल न जाय।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
सामसुंदर काय।

अवनत = झुकाये हुए। बारल = निवारण किया। रुचि = शोभा। पिबए = पीने के लिए। धाओल = दौड़ा। जनि = जैसे। से = वह।

ततहु = तहाँ। सयँ = से। हटि=हटाकर। आनल = लाया। धएल राखि=पकड़ रखा। मातल = मतवाला। उड़ए न पारए=उड़ नहीं सकता। तइअओ=तो भी। मुँदु = मूँद लिया। बाम भेल=प्रतिकूल हो गया। पसेब=पसीना। पसाहनि = (प्रसाधनी) अंगराग। भासलि = धो गया। पुलक=रोमांच। तइसन = उसी प्रकार। चूनि चूनि भए= टुकड़े-टुकड़े हो गया। काँचुअ - कंचुकी। बलआ=(वलय) चूड़ी। भाँगु = भंग हो गयीं, टूट गयीं।

प्रथम दर्शन से प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ, यह पिछले पद में दिखलाया जा चुका है। यहाँ नायिका प्रेम-दशा का वर्णन कर रही है। मैंने अपने मुख को नीचे झुका रखा और नेत्र रूपी चोरों को (प्रीतम की ओर) जाने से रोक रखा। किंतु उनके मुख की शोभा का पान करने के लिए वे वैसे ही दौड़ पड़े जैसे चाँद की ओर चकोर दौड़ते हैं। फिर भी मैं वहाँ से (मुख पर से) हठपूर्वक अपनी आँखें हटा लायी और उन्हें अपने पैरों पर टिका दिया (उन्हें रोकने पर भी न रुकने का दंड दिया); किंतु जिस प्रकार मधुमत्त भौंरा उड़ नहीं सकता पर पंख पसारता है उसी प्रकार मेरी आँखें उस ओर गयीं तो नहीं पर जाने के लिए व्यग्र बराबर रही आयीं। नायक ने प्रेम की मीठी बात की जिसे सुनकर मैंने कान बंद कर लिये, जिससे दूसरी वाणी न सुन पड़े। तत्काल ही उसी स्थान पर कामदेव वैरी होकर बाण-वर्षा करने लगा (मुझे प्रेमातिरेक हुआ) जिससे अपने ऊपर कोई वश न रह गया। शरीर में पसीना निकल आया इसलिए अंगराग धुल गया। रोमांच हो आया। पुलक से कंचुकी फटकर टुकड़े-टुकड़े हो गयी और हाथ की चूड़ी टूट गयी। हाथ कँपने लगा। मुँह से बोली न निकली।

१—शृंगार रस की पूरी सामग्री है। नायक आलंबन है। उसकी मीठी वाणी उद्दीपन। रति स्थायी भाव। व्रीड़ा (सिर नीचे करने, नीचे की ओर देखने इत्यादि से व्यंजित), हर्ष (पुलकने, पसीजने आदि से व्यंजित) संचारी भाव। स्वेद, पुलक, कंप इत्यादि अनुभाव हैं।

२—अंगराग छूटने, चूड़ी फूटने, कंचुकी फटने में स्वेद और पुलक का आधिक्य व्यंजित हुआ है।

१५

सामर सुन्दर ए बाट आएत,
तें मोरि लागलि आँख।
आरति आँचर साजि न भेले,
सब सखीजन साखि।
कहहि मो सखि कहहि मो,
कत तकर अधिबास।
दूरहु दूगुन एड़ि मैं आबओं,
पुनू दरसन आस।
....
सुरपति पाए लोचन मागओं,
गरुड़ मागओं पाँखि।
नंद क नंदन मैं देखि आबओं,
मन मनोरथ राखि।

ए बाट=इस रास्ते से। तें=इसी कारण। आरति=व्याकुलता के कारण। साखी=साक्षी। मो=मुझसे। कत=कहाँ। तकर=उसका। अधिबास=रहने का स्थान। दूरहु दूगुन=दुगनी दूरी। एड़ि=पार कर। आबओं=आऊँ। पुनू=पुनः। पाए=चरण। पाँखि=पंख।

(नायिका—राधा—कहती है कि) श्यामसुंदर कृष्ण इस रास्ते से निकले (मैंने कोई प्रयत्न अपने से नहीं किया), अचानक उनसे आँख लग गयी। उन्हें देखते ही मैं इतनी आर्त (प्रेम-विभोर) हो गयी कि अंचल तक सँभाल न सकी (तन-बदन का होश ही न रह गया)। इसकी साक्षी साथ की सब सखियाँ हैं (मेरा दोष इसमें बिलकुल नहीं है वह

तो रूप-माधुरी का प्रभाव था जिसने विवशतः मुझे आकर्षित कर लिया। ऐ मेरी सखियो, मुझे बतलाओ कि वे रहते कहाँ हैं। (उनके निवास-स्थान की) दूरी दुगुनी भी हो तो भी उनके पुनर्दर्शन की आशा से पार कर लूँ। (वे इतने सुंदर हैं कि दो आँखों से तो दर्शनेच्छा तृप्त नहीं हो सकती इसलिए) इंद्र के पैरों पड़कर उनके (सहस्र) नेत्र माँगूँ। (आतुरता इतनी अधिक है कि देखे बिना एक क्षण भी रहा नहीं जाता। इसलिए) गरुड़ से उनके पंख माँगूँ और इस प्रकार उन्हें देखकर अपने मन की इच्छा पूरी करूँ।

औत्सुक्य की व्यंजना है।

१६

कत न बेदन मोहि देसि मदना
हर नहीं बला मोहि जुबति जना।

बिभुति भूषन नहि चानन क रेनू
बघछाल नहि मोरा नेतक बसनू।

नहि मोरा जटाभार चिकुर क बेनी
सुरसरि नहि मोरा कुसुम क स्रेनी।

चाँद क बिंदु मोरा नहि इंदु छोटा
ललाट पावक नहि सिंदुर क फोटा।

नहि मोरा कालकूट मृगमद-चारु
फनपति नहि मोरा मुकता-हारु।

भनइ बिद्यापति सुन देव कामा
एक पए दूखन नाम मोरा बामा।

कत=क्यों। बेदन = (वेदना) दुःख। जना=जानो। चानन=चंदन। नेतक बसनू=चुनरी। चिकुर = केश। सुरसरि=गंगा। इंदु छोटा=द्वितीया का चंद्रमा। फोटा=(स्फोटक) बिंदु।

(संयोग में जो वस्तुएँ सुखद होती हैं वे वियोग में दुःखद हो जाती हैं। इसकी बहुत सुंदर व्यंजना यहाँ अपह्नुति अलंकार से करायी गयी है। विरहिणी नायिका कहती है) हे मदन, तुम मुझे कितना कष्ट पहुँचा रहे हो (इतना कष्ट मैं न सह सकूँगी)। समझ लो, मैं महेश नहीं हूँ; मैं तो (कोमलांगी) युवती हूँ। (मेरे शरीर में) जो लेप देख रहे हो वह विभूति नहीं है। वह तो चंदन की धूल (चंदन का लेप) है। मेरे शरीर पर व्याघ्रचर्म नहीं है। वह तो चुनरी है जिसे मैं प्रतिदिन पहनती हूँ। (सिर पर) जटा का भार नहीं है वरन् केशों की गुथी हुई वेणी है। (मेरे मस्तक पर) गंगा की धारा नहीं है वरन् (माथे पर गुथी हुई) पुष्पावली है। मेरे ललाट पर चंदन-बिंदु है, न कि द्वितीया का चंद्र। नेत्र में (तृतीय नेत्र की) अग्नि नहीं है, वह तो ललाट पर सेंदुर का टीका है। मेरे कंठ में कालकूट नहीं है वरन् कस्तूरी का लेप है। गले में शेषनाग नहीं है वरन् मुक्ताओं की माला है। हे कामदेव, सुनो; मुझमें यदि दोष है तो केवल यही कि मेरा नाम वाम (रमणी) है जिसका वामदेव—महेश के नाम—से साम्य है। इतने साम्य के कारण दंड देना योग्य नहीं)।

वियोग व्यथा की व्यंजना है।

१७

गेलि कामिनि गजहु गामिनि
बिहसि, पलटि निहारि।
इन्द्रजालक कुसुमसायक
कुहकि भेलि बर नारि।
जोहि भुज जुग मोरि बेढ़ल
ततहि बदन सुछंद।

दाम - चंपक काम पूजल
जइसे सारद चंद ।

....

पुनहि दरसन जीव जुड़ाएब
टूटत बिरह क ओर ।

चरन जावक हृदय पावक
दहइ सब अँग मोर ।

भन विद्यापति सुनह जदुपति
चित्त थिर नहि होय ।

से जे रमनि परम गुनमनि
पुनु कए मिलब तोय ।

गेलि = गयी । गजहु गामिनि=हाथी की-सी मस्तानी गतिवाली । पलटि = लौटकर । इंद्रजालक = (ऐंद्रजालिक) जादूगर । कुहकि= मायाविनी । इंद्रजालक''''नारि=फूल के बाण मारकर वह श्रेष्ठ कामिनी जादूगरनी हो गयी अर्थात् मन को मोहित कर लिया । बेढ़ल=घेरा । ततहि=वहीं । बदन = मुख । सुछंद (स्वच्छंद) प्रफुल्ल । दाम-चंपक= चंपे की माला । जोरि भुज''''जइसे सारद चंद=दोनों हाथों को जोड़कर फिर उनसे अपना प्रफुल्ल मुख ढक लिया । उस समय उसकी शोभा ऐसी लगती थी मानों कामदेव ने चंपे की माला से शरद् ऋतु के निर्मल चंद्रमा की पूजा की हो । पुनहि = पुण्य से ही । जीव जुड़ाएब= प्राण शीतल होंगे । ओर = सीमा । जावक = महावर । पावक=अग्नि । दहइ = जलता है । चरन जावक''''मोर=पैर का महावर देखकर हृदय अशांत हो गया है, अंग-अंग में बेचैनी है, मानो आग से हृदय जल रहा हो जिससे अंग-अंग में विह्वलता हो । से=वह । जे=जो । पुनु कए= पुण्य के फलस्वरूप ही । मिलब = मिलेगी । तोय=तुम्हें ।

१८

पथ-गति पेखल मो राधा।
तखनुक भाव परान पए पीड़लि
रहल कुमुदनिधि साधा।
ननुआ नयन नलिनि जनि अनुपम
बंक निहारइ थोरा।
जनि सृंखल में खगबर बांधल
दीठि नुकाएल मोरा।
आध बदन-ससि बिहसि देखाओलि
आध पीहलि निअ बाहू।
किछु एक भाग बलाहक झांपल
किछुक गरासल राहू।

पथ-गति = रास्ता चलते। पेखल = देखा। मो=मैं। तखनुक = (तत्क्षण का) उस समय का। प्राण पए=प्राण ही। पीड़लि = पीड़ित किया। रहल=रह गयी। कुमुदनिधि=चंद्रमा। साधा=प्रबल इच्छा। रहल कुमुदनिधि साधा=चंद्रमुखी को (जी भरकर) देखने की इच्छा पूरी नहीं हुई। ननुआ = सुंदर, आनंद देनेवाला। जनि = समान। बंक=टेढ़ा। निहारइ = देखती है। ननुआ नयन... थोरा = कमल के समान आनंददायक अनुपम नेत्र से तिरछे देखती है। शृंखल = (शृंखला) जंजीर। खगबर = (यहाँ) खंजन। नुकाएल = छिपा लिया। दीठि नुकाएल मोरा = मुझसे दृष्टि हटा ली। देखाओलि = दिखलाया। पीहलि = (पिहित) छिपा लिया। बलाहक = बादल। झाँपल = ढक दिया।

१९

जहाँ जहाँ पग-जुग धरई। तहिँ तहिँ सरोरुह झरई।
जहाँ जहाँ झलकत अंग। तहिँ तहिँ बिजुरि तरंग।
कि हेरल अपरुब गोरि। पइठल हिय मधि मोरि।
जहाँ जहाँ नयन बिकास। तहिँ तहिँ कमल प्रकास।
जहाँ लहु हास सँचार। तहिँ तहिँ अमिय बिकार।
जहाँ जहाँ कुटिल कटाख। ततहिँ मदन-सर लाख।
हेरइत से धनि थोर। अब तिन भुवन अगोर।
पुनु किए दरसन पाव। अब मोहे इत दुख जाव।
बिद्यापति कह जानि। तुअ गुन देइब आनि।

पग-जुग = (युग पद) दोनों पैर। बिजुरि तरंग = बिजली का चंचल प्रकाश। कि = क्या। हेरल = देखा। गोरि=गौरवर्णी। पइठल = धँस गयी। हिम मधि=हृदय में। मोरि=मेरे। लहु = (लघु) मन्द। कटाख = कटाक्ष। अगोर = देखकर। पुनु किए = (१) पुण्य करने से, (२) क्या फिर से। अब मोहे इत दुख जाव=अब मैं इस दुःख में मर जाऊँगा। तुअ गुन=तुम्हारे गुण की रस्सी। देहब आनि=ला देगी।

२०

मनमथ, तोहे की कहब अनेक।
दिठि अपराध पराण पए पीड़सि,
ते तुअ कौन बिबेक।
दाहिनि नयन पिसुन गन बारल,
परिजन बामहि आध।
आध नयन कोने जब हरि पेखल,
तेँ भेल अत परमाद।

पुर बाहिर पथ करत गतागत,
के नहि हेरत कान।
तोहर कुसुम-सर कतहु न सचर,
हमर हृदय पँचबान।

मनमथ=(मन्मथ) कामदेव। दिठि=(दृष्टि) नजर। पीड़सि पीड़ित करता है। पिसुन - कपटी। बारल - रोका। परिजन = घरवाले। परमाद=(प्रमाद) पागलपन। दाहिनि नयन""परमाद=(रहस्य खुलने के डर से अच्छी तरह देख भी न पाया)। छलियों के डर से तो दायें नेत्र को रोक रखा और घरवालों के डर से बायें नेत्र के आधे भाग को रोका। अब जो आधा नेत्र बचा उससे ही, सो भी उसके एक किनारे से, देखा। इतने से ही ऐसा पागलपन छा गया। अर्थात् गाँव-घरवालों के डर से अच्छी तरह देखा भी नहीं, केवल कनखियों से देखा। तब भी तन-बदन की सुध नहीं है। पूर्ण साक्षात् होता तो न जाने क्या होता। गतागत = आते-जाते। के = कौन।

२१

ए धनि कमलिनि सुन हित बानि,
प्रेम करबि जए सुपुरुख जानि।
सुजन क प्रेम हेम समतूल,
दहइत कनक दिगुन होय मूल।
टूटइत नहि टुट प्रेम अदभुत,
जइसन बढ़ए मृनाल क सूत।
सबहु मतंगज मोति नहि मानि,
सकल कंठ नहि कोइल-बानि।
सकल समय नहि रीतु बसंत,
सकल पुरुख नारि नहि गुनवंत।

भनइ विद्यापति सुन बर नारि,
प्रेम क रीत अब बुझह बिचारि।

धनि=बाला। कमलिनी=पद्मिनी (स्त्रियों की जाति विशेष)। बानि=(वाणी) बात। सुजान क=(सुजान का) समझदार का। हेम=सोना। समतूल=तुल्य, सदृश। दहइत=दग्ध होने पर, अग्नि की आँच सह लेने पर। कनक=सोना। दिगुन=(द्विगुण) दुगुना (अधिक)। मूल=मूल्य। अदभूत=(अद्भुत) विचित्र। मृनाल क सूत=कमल की दंडी का रेशा। मतंगज=मस्त हाथी। मोति=मोती। कोइलबानि=कोयल की बोली।

२२

लोटइ धरनि, धरनि धरि सोइ
खने खन साँस खने खन रोइ।

खने खन मुरछइ कंठ परान
इथि पर की गति दैब से जान।

हे हरि पेखलों से बर नारि
न जीवइ बिनु कर-परस तोहारि।

केओ केओ जपए बेद बिठि जानि
केओ नव ग्रह पुज जोतिख आनि।

केओ केओ कर धरि धातु बिचारि
बिरह बिखिन कोइ लखए न पारि।

धरनि=पृथ्वी। सोइ=वह। खन खन=(क्षणे क्षण) शीघ्र ही। साँस (लेती है)=उच्छ्वास (भरती है)। रोइ=रो पड़ती है। मुरछइ=मूर्छित हो जाती है। कंठ परान=प्राण कंठगत हो जाते हैं, मर-सी जाती हैं। इथि=इसके। पर=अनंतर। की=क्या। से=वह। इथि पर ... जान=इसके अनन्तर उसकी क्या दशा होगी इसे भगवान् जाने।

पेखलौं=देखा है। कर-परस-(कर-स्पर्श) हाथ से छुए। केओ=कोई। दिठि=(दृष्टि) नजर लगाना। पुज=पूजता है। जोतिअ=ज्योतिषी। आनि=लाकर। धातु=नाड़ी। बिखिन-(विक्षीण) विरह से क्षीण। लखए न पारि=समझ नहीं सकता। केओ केओ""कोइ लखए न पारि=नजर लगी समझकर कोई तो झाड़-फूँक करते हैं, ग्रहों का बिगाड़ समझकर कोई ज्योतिषी बुलाकर नवग्रह-पूजा कराते हैं, और कोई-कोई हाथ पकड़कर नाड़ी पर विचार करते हैं। यह कोई नहीं समझ पाता कि (नायिका की) क्षीणता विरह-जन्य है।

२३

लाखे तरुअर कोटिहि लता
जुबति कत न लेख।
सब फूल मधु मधुर नहो
फूलहु फूल बिसेख।
जे फुल भमर निबहु सुमर
बासि न बिसरए पार।
जाहि मधुकर उड़ि उड़ि पड़
से हे संसार क सार।
सुन्दरि, अबहु बचन सुन
सबे परिहर तोहि इछ हरि
आपु सराहहि पुन।
तोहरे चिंता तोहरे कथा
सेजहु तोहरे चाव।
सपनहु हरि पुनु पुनु कए
लए उठए तोर नाव।
आलिंगन दए पाछु निहारए
तोहि बिनु सुन कोर।

अकथ कथा आपु अबथा
नयन तेजए नोर।
राही राही जाहि मुँह सुनि
ततहि अप्पए कान।
सिरि सिबसिंघ इ रस जानए
कवि बिद्यापति भान।

तरुअर = (तरुवर) श्रेष्ठ वृक्ष। न लेख = लेखा नहीं, असंख्य। निदहु = सोते हुए भी। से हे = वही। इछ = (इच्छा) करता है। पुनु पुनु कए = बारंबार। नाब = नाम। दए = देते हैं। सुन = (शून्य) खाली। कोर = (क्रोड़) गोद। आपु = अपनी। अबथा = (अवस्था) दशा। नोर = (नीर) आँसू। राहि = राधा। अप्पए = (अर्पण करता है) देता है।

२४

आसाएँ मंदिर निसि गमाबए,
सुख न सूत सँयान।
जखन जतए जाहि निहारए
ताहि ताहि तोहि भान।
मालति! सफल जीवन तोर,
तोर बिरहे भुवन भम्मए,
भेल मधुकर भोर।
जातकि केतकि कतन अछए,
सबहि रस समान।
सपनहु नहि ताहि निहारए,
मधु कि करत पान।

बन उपबन कुंज कुटीरहि,
सबहि तोहि निरूप।
तोहि बिनु पुनु पुनु मुरछए,
अइसन प्रेम सरूप।
साहर नबह सउरभ न सह,
गुजरि गीत न गाब।
चेतन पापु चिंताए आकुल,
हरख सबे सोहाब।
जकर हिरदय जतहि रतल,
से धसि ततहि जाए।
जइओ जतने बाँधि निरोधिअ,
निमन नीर थिराए।

आसाएँ = आशा में। सूत = सोता है। सँयान = शय्या पर। जखन = जिस क्षण, जब। जतए = जहाँ। जखन जतए.... तोहि भान = जब जहाँ, जिसे देखता है, उसे तुमको ही समझता है। उसके लिए सारा संसार तुममय हो गया है। भम्मए = भ्रमण करते हुए। भोर = (विभोर) भूला हुआ। कत = कितना। अछए = हैं। कि = क्यों। अइसन = इस तरह। साहर = (सहकार) आम। नबह = (नव) नया। सउरभ = (सौरभ) सुगंध। गुजरि = गुंजार करके। गाब = गाता है। चेतन = (चैतन्य) प्राणी। पापु = पापी। चिंताए = चिंता से। हरख सबे सोहाब = प्रसन्नता के समय ही सब अच्छा लगता है। जकर = जिसका। जतहि = जहाँ। रतल = अनुरक्त हुआ। से = वह। जकर हिरदय ··· जाए = मिलान कीजिये—जाकर मन रम जाहि सों तेहि ताही सों काम (तुलसी)। निरोधिए = रोकिए। निमन = निम्न स्थान। थिराए = स्थिर होता है।

२५

कर धरु करु मोहे पारे,
देब मैं अपरुब हारे, कन्हैया।
सखि सब तेजि चलि गेली,
न जानू कोन पथ भेली कन्हैया।
हम न जाएब तुअ पासे,
जाएब औघट घाटे, कन्हैया।
विद्यापति एहो भाने,
गूजरि भजु भगवाने, कन्हैया।

धरु=धरकर। पारे=(नदी) पार कर दो। मैं=मैं। हारे=माला। तेजि=तजकर, छोड़कर। कोन पथ भेली=किस रास्ते गयीं। जाएब=जाऊँगी। तुअ=तेरे। औघट घाटे=जिस घाट में आवागमन न हो। एहो=यह। गूजरि=बाला।

यह विद्यापति का बहुत भावपूर्ण पद माना जाता है। नायिका के गूढ़ भाव की बड़ी अच्छी व्यंजना है। कुछ टीकाकारों के मत से इसमें कवि की भक्ति-भावना व्यंजित की गयी है। पर यह खींचातानी है।

२६

तुअ गुन गौरब सील सोभाव
सुनि कए चढ़लिहुं तोहरि नाव।
हठ न करिअ कान्हु कर मोहि पार
सब तहँ बड़ थिक पर उपकार।
आइलि सखि सब साथ हमार
से सब गेल निकहि बिधि पार।

हमरा भेल कान्हु तोहरोअ आस
जे अँगिरिअ ता न होइअ उदास ।
भल मंद जानि करिअ परिनाम
जस अपजस दुइ रहत ए ठाम ।
हम अबला कत कहब अनेक
आइति पड़ले बुझिअ . बिबेक ।
तोहें पर-नागर हम पर-नारि
काँप हृदय तुअ प्रकृति बिचारि ।
भनइ बिद्यापति गावे
राजा सिबसिंघ रूपनरायन
इ रस सकल से पावे ।

सब तहँ=सबसे । थिक=हैं । भेलि=हुई । से=वे । निकहि विधि=अच्छी तरह । जे=जिसे । अँगरिअ=स्वीकार किया जाय । ता=उससे । होइअ उदास=तटस्थ न हो जाना चाहिए । कत=कितना । आइति पड़ले=(अवसर) आ पड़ने पर ही । बुझिअ बिबेक=ज्ञान जाना जाता है । पर-नागर=पर-पुरुष । प्रकृति=स्वभाव ।

२७

परिहर, ए सखि, तोहें परनाम
हम नह जाएब से पिआ ठाम ।
बचन चातुरि हम किछु नहि जान
इंगित न बूझिए न जानिए मान ।
सहचरि मिली बनाबए भेस
बाँधए न जानिए अप्पन केस ।
से बर नागर रसिक सुजान
हम अबला अति अलप गेआन ।

परिहर=छोड़ो (इन सब बातों को) । परनाम=प्रणाम । परिहर····पिआ ठाम=मेरा प्रणाम लो और इन सब बातों को छोड़ो । कुछ मत कहो । से=वह (उस) । इंगित=संकेत । न बूझिए=नहीं समझती । सहचरि=सखियाँ । बनाबए भेस=मेरा शृंगार करती हैं । अलप गेआन=कम अनुभववाली (भोली) ।

२८

हे हरि हे हरि सुनिए स्रवन भरि,
अब न बिलास क बेरा ।
गगन नखत छल से अबेकत भेल,
कोकिल करइछ फेरा ।
चकबा मोर सोर कए चुप भेल,
उठिए मलिन भेल चंदा ।
नगर क धेनु डगर कए संचर,
कुमुदनि बस मकरंदा ।
रयनि समापलि फुलल सरोज,
भमि भमि भमरी भमरा खोज ।
दीप मंद रुचि अंबर रात,
जुगुतहि जानलि भए गेल परात ।

स्रवन भरि=श्रवण भरकर, अच्छी तरह । नखत=नक्षत्र, तार । छल=थे । से=वे । अबेकत=(अव्यक्त) अदृश्य । भेल=हुए । करइछ फेरा=(कूक-कूक) फेरा कर रही है । सोर कए=कोलाहल करके । मलिन भेल चंदा=चंद्रमा द्युतिहीन हो गया । डगर=रास्ता । डगर कए संचर=(चरने के लिए) जा रही हैं । रयनि=रात्रि । समापलि=समाप्त

हो गयी, बीत गयी। भमि''''खोज= भ्रमरी घूम-घूमकर भ्रमर (जो कमल-कोष में बंद था) को ढूँढ़ रही है। दीप=दीपक। मंद=मलिन। अंबर=आकाश। रात=लाल (उषा से)। जुगुतहि=(युक्ति) से ही। जानलि=जान गयी। परात-(प्रात) सबेरा।

प्रातःकाल का बड़ा सुंदर वर्णन है।

२९

अंबर बदन झपावह गोरी,
रात सुनइ छिअ चाँद क चोरी।

घर घर पहरि गेल अछि जोहि,
अबही दूखन लागत तोहि।

कतए नुकाएब चाँद क चोर,
जतहि नुकाओब ततहि उजोर।

हास सुधारस न कर उजोर,
बनिक धनिक धन बोलब मोर।

अधर क सीम दसन कर जोति,
सिंदुर क सीम बैसाओल मोति।

भनइ विद्यापति होह निरसंक,
चाँदहु काँ किछ भेद कलंक।

अंबर=वस्त्र, घूँघट। बदन=मुख। झपावह=ढँक लो। रात सुनइ छिअ=रात्रि में सुनाई पड़ती है। क=का। पहरि=प्रहरी। गेल अछि जोहि=ढूँढ़ गया है। दूखन=(दूषण) कलंक। कतए=

कहाँ। नुकाएब=छिपेगा। उजोर=प्रकाश। हास सुधारस....मोर=हँसो मत, अन्यथा हास से प्रकाश हो जायगा और धनी व्यापारी अधर-स्थित तेरे दाँतों को मुक्ता समझकर कहेंगे कि यह मेरी संपत्ति है। होह=होओ। थिक=है। चाँदहु....कलंक=तुम्हारे मुख और चंद्रमा में कलंक का भेद है। चंद्रमा कलंकयुक्त है और तुम निष्कलंक।

३०

साँझ क बेरि उगल नव ससधर
भरम बिदित सबिताहु
कुंडल चक्र तरास नुकाएल
दूर भेल हेरथि राहु
जनु बइससि रे बदन हाथ लाई
तुअ मुख चंगिम अधिक चपल भेल
कति खन धरब नुकाई
रक्तोपल जनि कमल बइसाओल
नील नलिनि दल तहु
तिलक कुसुम तहु माझु देखि कहु
भमर आबथि लहु लहु
पानि-पलब-गत-अधर बिंब-रत
दसन दाड़िम-बिज तोरे
कीर दूर भेल पास न आबए
भौंह धनुहि के भोरे।

संध्या होते-होते चंद्रमुखी नायिका घर के बाहर हुई है। उसके रूपोत्कर्ष से चारों ओर जो भ्रम छा गया उसी का वर्णन इस पद में किया

गया है। बेरि = (बेला) समय। उगल = उदित हुआ। ससधर = चंद्रमा। भरम बिदित = भ्रम-ज्ञान हुआ। सविताहु = सूर्य को भी। कुंडल चक्र = कर्णफूलरूपी चक्र। तरास = (त्रास) डर। दूर भेल.... राहु = (केशरूपी) राहु जो ढूँढ़ रहा था वह छिप गया। जनु = मत। बइससि = बैठो। बदन हाथ लाई = मुख हाथ पर रखकर। चंगिम = सुंदर। कति खन = कब तक। नुकाई = छिपाकर। रक्तोपल = लाल कमल (हाथरूपी)। नील नलिनि = नीला कमल (आँखों के लिए आया है)। तहु = वहाँ भी। लहु लहु = धीरे-धीरे। पानि-पलब-गत = पल्लव के समान हाथ में। बिंब-रत = बिंबा फल के समान लाल। दसन = दाँत। दाड़िम-बिज = अनार के दाने। कीर - सुग्गा। भेल = हुआ। भोरे = भ्रम से।

३१

रयनि काजर बम भीम भुजंगम,
कुलसि परए दुरबार।
गरज तरज मन रोस बरसि घन,
संसअ पड़ अभिसार।
सजनी, बचन छड़इत मोहि लाज।
होएत से होओ बरु सब हम अंगिकरु,
साहस मन देल आज।
अपन अहित लेल कहइत परतेख,
हृदय न पारिअ ओर।
चाँद हरिन बह राहु कबल सह,
प्रेम पराभव थोर।
चरन बेढ़लि फनि हित मानलि धनि,
नेपुर न करिए रोर।

सुमुखि पुछओं तोहि सरुप कहहि मोहि,
सिनेह क कत दुर ओर।
ठामहि रहिअ घुमि परम चिन्हअ भूमि,
दिम गग उपजु सँदेह।
हरि हरि सिव सिव तावे जाइअ जिउ,
जावे न उपजु सिनेह।
भनइ बिद्यापति सुनहु सुचेतनि,
गमन न करहु बिलंब।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन,
सकल कला अवलंब।

रयनि = रात्रि। बम = वमन करता है। रयनि काजर बम = रात्रि में अंधकार फैल रहा है। भीम = बड़ा। भुजंगम = सर्प। दुरबार = (दुर्निवार) जिसका निवारण नहीं किया जा सकता। रोस = (रोष) क्रोध। होएत से होओ बरु = जो होना हो वह भले ही हो जाय। अंगिकरु = स्वीकार करूँगी। अहित = बुराई। लेख - समझना। परतेख = प्रत्यक्ष। ओर = अन्त। हरिन = चंद्रमा का काला धब्बा हरिण माना जाता है। बह = वहन करना, धारण करना। कबल = कौर। सह = साथ। पराभव = हार। चाँद हरिन""पराभव थोर=प्रेम की पराजय कभी नहीं होती। वह किसी विघ्न बाधा से कभी नहीं दबता। चंद्रमा राहु से ग्रस्त होकर भी अपने क्रोड़गत मृग का त्याग नहीं करता।

३२

जाहि लागि गेलि हे ताहि कहाँ लइलि हे,
ता पति बैरि पितु काहाँ।
अछलि हे दुख सुख कहह अपन मुख,
भूखन गमओलह जाहाँ।

सुन्दरि, कि कए गमाओल कंते,
जन्हिका जनम होइत तोहे गेलिहु।
अइलि हे तन्हिका अंते।
जाहि लाहि गेलहु से चलिआएल,
तें मोयँ धाएल नुकाई।
से चलि गेल ताहि लए चललिहु,
तें पथ भेल अनेआई।
संकर-बाहन खेड़ि खेलाइत
मेदिनि-बाहन आगे।
जे सब अछलि संग से सब चललि भँग,
उबरि अएलहुँ अति भागे।

जाहि लागि = जिसके लिए। गेलि = गयी। ता पति बैरि पितु काहाँ = उसके (जल के) पति (समुद्र) के बैरी (कुम्भज) के पिता घट कहाँ हैं (नहीं हैं)। अछलि = थी। गमओलह = खो दिया। जन्हिका जनम होइत = जिसका (दिन का) जन्म होते ही (बड़े सबेरे)। तन्हिका अंते = उसके (दिन के) अंत में (सूर्यास्त हो जाने पर)। जाहि लागि··· नुकाई = जिसके लिए मैं गयी थी वह चली आयी, जिसके कारण मुझे छिपना पड़ा। (जल के लिए गयी थी इतने में जलवृष्टि होने लगी इसलिए मुझे दौड़कर छिपना पड़ा)। से = वह। तें = इसलिए। अनेआई = अन्याय, अनीति। से चलि····चललिहु = वह (जलवृष्टि) दूर हो गयी तब उसे (जल) लेकर आयी। संकर-बाहन = बैल। खेड़ि खेलाइत = खेल कर रहा था, बैल से बैल लड़ रहा था। मेदिनि-बाहन० = सर्प आगे था। अछलि = थी। जे सब अछलि···अति भागे = जो साथ थीं सब भाग चलीं। मैं तो भाग्य से बच गयी, अन्यथा बचने की आशा न थी।

चमत्कार-प्रधान दृष्टिकूट पद का उदाहरण है।

३३

अरुन पुरब दिसा बितलि सगरि निसा
गगन मगन भेला चंदा।
मूदि गेलि कुमुदिन तइऔ तोहर धनि
मूदल मुख अरबिंदा।
चांद बदन कुबलय दुहु लोचन
अधर मधुरि बिरमान।
सगर सरीर कुसुम तोंए सिरिजल
किए दहु हृदय पखान।
अस कति करह ककन नहि पहिरह
हार हृदय भेल भार।
गिरि सम गरुअ मान नहि मुंचसि
अपरुब तुअ बेवहार।
अवगुन परिहरि हेरइ हरखि धन
मानक अबधि बिहान।
राजा सिबसिंघ रूपनरायन
कबि बिद्यापति भान।

भामिनी को सखी समझा रही है।

अरुन = लाल। बितलि बीत गयी। सगरि=सारी, पूरी। मगन=(मग्न) लीन। अरबिंदा = कमल। बदन = मुख। कुबलय=कमल। मधुरि = मधूलिका (लाल रंग का एक फूल)। सिरिजल=बनाया। किए दहु = न जाने क्यों। अस कति करह=ऐसा कब तक करोगी। मुँचसि = छोड़ती है। पखान=(पाषाण) पत्थर। गिर सम गरुअ.... बेवहार=तेरे व्यापार विचित्र ही हैं क्योंकि भूषण तो भार हो रहे हैं, पर्वत के समान भारी मान को नहीं फेंक रही हो, उसे ग्रहण किये हुए

हो। अवगुन परिहरि=(१) हमारे अवगुण पर ध्यान न दो। (२) यह तुम्हारे लिए अवगुण है, इसे छोड़ दो।

३४

माधव, दुर्जय मानिन मानि
बिपरित चरित पेखि चकरित भेल
न पुछल आधहु बानि।
तुअ रूप साम अखर नहि सूनए
तुअ रूप रिपु सम मानि।
तुअ जन सयँ संभास न करई
कइसे मिलाएब आनि।
नील बसन बर, काँचन चुरि कर
पीतिक माल उतारि।
करि-रद चुरि कर मोति-माल बर
पहिरल अरुनिम सारि।
असित चित्र उर पर छल, मेटल
मलयज देह लगाइ।
मृगमद तिलक धोइ दृगंचल, कच
सयँ मुख लए छपाइ।
एक तील छल चारु चिबुक पर
निवि मधुप-सुत सामा।
तृन - अग्रे करि मलयज रंजल
ताहि छपाओल रामा।
जलधर देखि चंद्रातप झाँपल
सामरि सखि नहि पास।

तमाल तरु गन चूना लेपल
सिखि पिक दूरि निवास ।
मधुकर डर धनि चंपक-तरु तल
लोचन जल भरि पूर ।
सामरि चिकुर हेरि मुकर पटकल
टूटि भए गेल सत चूर ।
तुअ गुन-गाम कहए सुक पंडित
सुनतहि उठल रोसाइ ।
पिंजर झटकि फटिक पर पटकल
धाए धएल तहि जाइ ।
मेरु सम मान सुमेरु कोप सम
देखि भेल रेनु समान ।
विद्यापति कह राहि मनावए
आपु सिधारह कान ।

दुर्जय=जो कठिनाई से जीता जा सके। साम=(श्याम) कृष्ण। अखर = अक्षर। सयँ = से। संभास = (संभाषण) बातचीत। काँचन चुरि कर=हाथों की काँच की चूड़ी। पौतिक=नीलमणि। करि-रद चुरि-हाथीदाँत की चूड़ी। अरुनिम=लाल। सारि=साड़ी। असित चित्र = काला गोदना। छल = था। मृगमद = कस्तूरी। दृगंचल= पलक। कच=केश। सयँ=से। तील=तिल। चिबुक-ठुड्ढी। एक तील छल''''रामा-ठुड्ढी पर एक ऐसा काला तिल था जो श्यामता में भौंरे के बच्चे को भी लज्जित करता था। उसे उस सुंदरी ने (श्याम रंग से चिढ़कर) तृण की नोक से चंदन लगाकर उसकी श्यामता छिपा दी। चंद्रातप = चँदोवा। रोसाइ = क्रोधित। गाम-(ग्राम) समूह। धाए धएल = धाकर पकड़ा। सत चूर = टुकड़े-टुकड़े। राहि = राधिका। मेरु = पर्वत।

३५

सजनी अपद न मोहि परबोध ।

तोड़ि जोड़िअ जहाँ गाँठ पड़ए तहाँ
तेज तम परम बिरोध ।

सलिल सनेह सहज थिक सीतल
इ जानए सब कोई ।

से जदि तपत कए जतने जुड़ाइअ
तइओ बिरत रस होई ।

गेल सहज हे कि रिति उपजाइअ
कुल ससि नीलो रंग ।

अनुभवि पुनु अनुभवए अचेतन
पड़ए हुतास पतंग ।

अपद = अयोग्य, अनुचित रूप में । परबोध = संतोष देना । तेज = प्रकाश । तम = अंधकार । तेज... परम बिरोध = मेरा प्रेम प्रकाश के समान स्वच्छ और कृष्ण का अंधकार के समान कपटपूर्ण प्रेम है। अतः हम दोनों में महान् अंतर है। थिक = है। तपत कए = गर्म करके। जतने = यत्नपूर्वक। सहज सीतल थिक = स्वभाव से ही शीतल है। बिरत रस = अस्वादिष्ट। से यदि ... विरत रस होई = जल को गर्म करके यदि शीतल किया जाय तो उसमें जल का स्वाभाविक स्वाद नहीं रह जाता (वह अस्वादिष्ट हो जाता) है। उसी प्रकार प्रेम की रीति जब तक स्वाभाविक गति से चली जाती है तभी तक उसमें रस रहता है। वह यदि एक बार विकृत हुआ तो फिर प्रयत्न करने पर भी प्रकृत रूप में नहीं आ पाता। कि = क्या। गेल सहज हे ... नीलो रंग = कुलरूपी चंद्रमा में नीला कलंक लग जाने के उपरांत लाख प्रयत्न करने पर भी क्या उसमें स्वाभाविक रंग आ सकता है? अनुभवि = जानकर।

'नु =(पुनः) फिर से। अनुभवए = अनुभव करता है। हुतास = (हुताशन) अग्नि।

३६

कबहुँ रसिक सयँ दरसन होए जनु
दरसन होए जनु नेह।
नेह बिछोह जनु काहुक उपजए
बिछोह घरए जनु देह।
सजनी दुर करु ओ परसंग।
पहिलहि उपजइत प्रेम क अंकुर
दारुन बिधि देल भंग।
दैव क दोष प्रेम जदि उपजए
रसिक सयँ जनु होय।
कान्ह से गुपुत नेह करि अब एक
सबहु सिखाओल मोय।
एहन औषध सखि कहि नहि पाइअ
जनि जौबन जरि जाव।
असमंजस रस सहए न पारिअ
इह कबि सेखर गाव।

सयँ = से। जनु = नहीं। बिछोह = वियोग। काहुक = किसी को। परसंग = (प्रसंग) कथा। दुर करु ओ परसंग = कृष्ण के प्रेम की कथा मत छेड़। दारुन = कठोर। बिधि = ब्रह्मा। भंग देल = नष्ट कर दिया। दैव क दोष = विधि-विडंबना से, संयोग से। सिखाओल = शिक्षा देती हूँ। मोय = मैं। जनि = जिससे। रस = प्रेम। असमंजस रस सहए न पारिअ = प्रेम के क्षेत्र में द्विधा सही नहीं जाती।

३७

जनम होअए जनु, जौं पुनु होई
जुबती भए जनमए जनु कोई

होइ जुवति जनु हो रसमंति।
रसओ बुझए जनु हो कुलमंति।

इ धन मागओं बिहि एक पए तोहि।
थिरता दिहह अबसानहु मोहि।

मिलि सामी नागर रसधार।
परबस जनु होए हमर पिआर।

होए परबस कुछ बुझए बिचारि।
पाए बिचार हार कओन नारि।

भनइ बिद्यापति अछ परकार।
दंद-समुद होअ जीव दए पार।

जनु = कहीं। जौं = यदि। जुबती = (युवती) जवान स्त्री। रसमंति = सुरसिका। इ = यह। धन = वरदान। बिहि = (विधि) ब्रह्मा। एक पए = एक ही। थिरता = स्थिरता। अबसानहु = अन्त में भी। दिहह = देना। सामी = (स्वामी) पति। नागर = चतुर। रसधार = रसिक। परबस = परतंत्र, दूसरे के अधीन। बुझए बिचार = विचार कर सके, निश्चय कर सके। पाए बिचार ""नारि = विवेकशील होने पर यह निश्चय कर सकेगा कि कौन स्त्री गले का हार हो सकती है। अछ = है। परकार = (प्रकार) उपाय। दंद = झंझट, झगड़ा। समुद = समुद्र। दंद-समुद""पार = प्राण देकर द्वंद्वात्मक जगत् से पार हो जाओ।

कोई-कोई इस पद में अलौकिक प्रेम की भी व्यंजना मानते हैं।

तुअ पथ हेरि हेरि चित नहि थीर।
सुमिरि पुरुब नेहा दगध सरीर।
कत परि माधव साधब मान।
बिरही जुबति माग दरसन दान।
जल-मध कमल गगन-मध सूर।
आँतर चान कुमुद कत दूर।
गगन गरज मेघ सिखर मयूर।
कत जन जानसि नेह कत दूर।
भनइ बिद्यापति बिपरित मान।
राधा बचन लजायल कान।

करतल = हथेली। चेतए = सँभालती है। समरन = आभरण, गहने। कुंतल = बाल। चीर = वस्त्र। तुअ = (तव) तेरा। हेरि हेरि = देख-देखकर। थीर = स्थिर। पुरुब = (पूर्व) पहला। नेहा = (स्नेह) प्रेम। दगध = दग्ध होता है, जलता है। कत परि = कब तक। साधब मान = मान किये रहोगे। मध = (मध्य) में। सूर = (सूर्य)। आँतर = अंतर, बीच। चान = (चाँद) चंद्रमा। सिखर = (पहाड़ की) चोटी। बिपरित मान = विपरीत मान (कृष्ण द्वारा होने के कारण क्योंकि मान स्त्रियाँ करती हैं, पुरुष नहीं)।

४०

माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि
नवम मास पंचम हरुआई।
अति घन पीड़ा दुख बड़ पाओल
बनसपति भेलि धाई हे।
सुभ खन बेरा सुकुल पक्ख हे
दिनकर उदित समाई।

सोरह संपुन बतिस लखन सह
जनम लेल रितुराई हे।
नाचए जुबतिजना हरखित मन
जनमल बाल मधाई हे।
मधुर महारस मंगल गाबए
मानिन मान उड़ाई हे।

बह मलयानिल ओत उचित हे।
नव धन भओ उजियारा।
माधवि फूल भेल मुकुता तुल
ते देल बंदनबारा।
पोअरि पाँड़रि महुअरि गाबए
काहरकार धतूरा।
नागेसर कलि संख धूनि पूर
तकर ताल समतूरा।
मधु लए मधुकर बालक दएहलु
कमल-पंखरी लाई।
पओनारि तोरि सूत बाँधल कटि
केसर कएलि बधनाई।
नव नव पल्लव सेज ओछाओल
सिर देल कदंब क माला।
बैसलि भमरी हरउब गाबए
चक्का चंद निहारा।
कनअ केसुअ सुति-पत्र लिखिए हलु
रासि नछत कए लोला।
कोकिल गनित गुनित भल जानए
रितु बसंत नाम थोला।

बाल बसन्त तरुन भए धाओल
बढ़ए सकल संसारा।
दखिन पवन घन अंग उगारए
किसलय कुसुम-परागे।
सुललित हार मंजरि घन कज्जल
अखितों अंजन लागे।
नव बसंत रितु अगुसर जौबति
बिद्यापति कबि गावे।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
सकल कला मन भावे।

सिरि पंचमी = (श्री पंचमी) वसंत पंचमी जो माघ के शुक्ल पक्ष में होती है। गँजाइलि = गर्भवती हुई। नवम मास = ९ महीने जेठ से माघ तक (क्योंकि वसंत का अंत वैशाख में होता है)। पंचम हरुआई = पाँचवा दिन होने पर (आयुर्वेद के अनुसार ९ महीने ५ दिन में पुष्ट बालक पैदा होता है)। घन = बहुत। खन = क्षण। बेरा = (बेला) समय। सुकुल पक्ख = (शुक्ल पक्ष)। दिनकर = सूर्य। समाई = समय। सोरह संपुन = सोलह (अंग) संपन्न, सोलहों अंगों से पूर्ण। बत्तिस लखन = बत्तीस लक्षण। सह = सहित। लेल = लिया। जनमल = जन्म लिया। मधाई = (माधव) वसंत। उड़ाई = दूर किया। ओत = (ओट) बचाव। तुल = (तुल्य) समान। माधवि = (माधवी) मधोई का फूल। ते = वे। देल = दिया। पीअरि पाँड़रि = एक फूल। महुअरि = (मधुकरी) भ्रमरी। काहरकार = तुरही। नागेसर कलि = नागकेसर की कली। तकर = उसका। समतूरा = (समतुल्य) समान। दएहलु = ला दिया। पओनार = (पद्मनाल) कमलदंड। कटि = कमर। बघनाई = (व्याघ्रनख) बघनहा (जो बालक को टोने से बचाने के लिए पहनाया जाता है)। ओछाओल = बिछाया। सिर देल कदंब क माला = तकिया के

लिए कदंब की माला रखी। बैसलि = बैठी हुई। भमरी = (भ्रमरी) भौंरी। हरउद = गीत (जो बालक को सुलाते समय गाया जाता है), लोरी। कनअ = (कनक) सोना। केसुअ = टेसू। सुति-पत्र = जन्मपत्र। नछत = नक्षत्र। लोला = ठीक करके। गनित गुनित = गणित की गणना। थोला = थापा, रखा। दखिन पवन····परागे = दक्षिण पवन (मलयानिल) किसलय और पराग लेकर उसके शरीर में उबटन लगाता है। हार मजरि = (हार-मंजरी) मंजरी का हार। दखिन पवन घन···· अखितौं अंजन लागे = मंजरी का सुंदर हार है, मेघ ने आँखों में काजल लगा दिया है।[1]

४१

आएल रितुपति राज बसंत
धाओल अलिकुल माधवि-पंथ।
दिनकर-किरन भेल पौगंड।
केसर कुसुम धएल हेमदंड।
नृप-आसन नव पीठल पात।
कांचन कुसुम छत्र धर माथ।

---

१. मिलान कीजिए—

डारद्रुम पालन बिछौना नव पल्लव के
सुमन झिंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं देव
कोकिल हिलावै हुलसावै करतारी दै।
पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन
कंजकली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि
प्रातहि जगावै गुलाब चटकारी दै॥
—देव

मौलि रसाल मुकुल भेल ताय।
समुख हि कोकिल पंचम गाय।

सिखिकुल नाचत अलिकुल यंत्र।
द्विजकुल आन पढ़ आसिख मंत्र।

चंद्रातप उड़े कुसुम पराग।
मलय पवन सह भेल अनुराग।

कुन्दवल्ली तरु धएल निसान।
पाटल तून असोक दल बान।

किसुक लवँग-लता एक संग।
हेरि सिसिर रितु आगे दल भंग।

सेन साजल मधु-मखिका कूल।
सिसिर क सबहु कएल निरमूल।

उधारल सरसिज पाओल प्रान।
निज नव दल कर आसन दान।

नव वृन्दावन राज बिहार।
विद्यापति कह समय क सार।

(बालक वसंत नृप वसंत हो गया है। उसी का रूपक यहाँ बाँधा गया है)। आएल = आया। धाओल = दौड़ा। अलिकुल = भ्रमर-समूह। माधवि = (माधवी) एक फूल, मधोई। पंथ = मार्ग, ओर। दिनकर = सूर्य। भेल = हुआ। पौगंड = किशोरावस्था (कुछ-कुछ तीव्र)। हेमदंड = सोने का डंडा। पीठल = वृक्ष-विशेष। पात = पत्ता। काँचन कुसुम = (कंचन-कुसुम) पीला चंपा। मौलि = मौरी। रसाल मुकुल = आम्रमंजरी। ताय = उसके। सिखी = (शिखी) मोर। यंत्र = बाजा। 'अलिकुल यंत्र बजा रहे हैं' का अध्याहार है। द्विजकुल = (१) पक्षियों का समूह, (२) ब्राह्मण-वृन्द। आन = आकर। आसिख मंत्र = मांगलिक श्लोक।

चंद्रातप = चँदोवा। सह = साथ। कुंदबल्ली तरु····निसान = पुष्पित कुंद-लता ही पताका है। तून = निषंग। पाटल····दल बान = पाटल के पत्ते निषंग और अशोक के (नुकीले होने के कारण) बाण हैं। किंसुक लवँग····संग = लवंग-लता से लिपटा हुआ पलास (प्रत्यंचा-संयुक्त धनुष के समान है) जिसे देखकर ही शिशिर ऋतु का दल-समूह पहले ही भंग हो गया। कूल = कुल। उधारल = उद्धार किया।

४२

लता तरुअर मंडप जीति।
निरमल ससधर धवलिए भीति।
पउँअनाल अइपन भल भेल।
रात परीहन पल्लव देल।
देखह माइ हे मन चित लाय।
बसंत-बिवाहा कानन थलि आय।
मधुकरि-रमनी मंगल गाव।
दुजबर कोकिल मंत्र पढ़ाव।
कर मकरंद हथोदक नीर।
बिधु बरिआती धीर समीर।
कनअ किंसुक सुति तोरन तूल।
लाबा बिथरल बेलि क फूल।
केसर-कुसुम कर सिंदुर-दान।
अओतुक पाओल मानिनि मान।
खेलए कौतुक नव पँचबान।
बिद्यापति कबि बुझ कए भान।

जब बालक बसंत युवा और पराक्रमी हो गया तो विवाह भी होना चाहिए। इस पद में उसी की तैयारी है। तरुअर = (तरुवर) अच्छे-

अच्छे पेड़। ससघर = चंद्रमा। धवलिए = धवल कर दिया है। (चूना पोतकर)। भीति = दीवार। पउँअनाल = (पद्मनाल) कमल की डंडी। अइपन = (आलेपन) पृथ्वी पर का मांगलिक चित्र। रात = लाल। परीहन = (परिधान) वस्त्र। माइ हे = हे मैया। कानन थलि = कानन-स्थलि, वनभूमि। मधुकरि-रमनि = भौंरी रूपी स्त्री। दुजबर = (द्विजवर) श्रेष्ठ ब्राह्मण। हथोदक = (हस्तोदक) वह जल जो हाथ में लेकर विवाह का संकल्प पढ़ा जाता है। विधु = चंद्रमा। कनअ = (कनक)। लाबा = धान का लावा जो विवाह में बिखेरा जाता है। जओतुक.... (यौतुक) दहेज।

४३

अभिनव पल्लव बइसक देल।
धवल कमल फुल फुल पुरहर भेल।
करु मकरंद मंदाकिनि-पानि।
अरुन असोग दीप बहु आनि।
माइ हे आज दिवस पुनमंत।
करिए चुमाओन राय बसंत।
सपुन सुधानिधि दधि भल भेल।
भमि भमि भमरि हुंकारइ देल।
केसु कुसुम सिंदुर सम भास।
केतकि-धूल बिथरहु पटबास।
भनइ विद्यापति कवि-कंठहार।
रस बुझ सिवसिंघ सिव-अवतार।

बइसक = बैठकी। पुरहर = विवाह की डाली। मंदाकिनि-पानि = गंगाजल। अरुण = लाल। असोग = (अशोक) वृक्ष। दीप = दीपक। बहु आनि = ला दिया। पुनमंत = (पुण्यमय) शुभ। करिए चुमाओन =

चुंबन करो। सपुन = (सम्पूर्ण) पूरा । सुधानिधि = चंद्रमा। दधि भेल = दही हुआ। भमि भमि = (भ्रमण कर-करके) चक्कर लगा-लगाकर। भमरि = (भ्रमरी) भौंरी। हँकारइ देल = निमंत्रण दे आयी, बुलावा कर आयी। केसू कुसुम = पलास का फूल। भास = प्रतीत होता है। केतकि-धूलि = केतकी का पराग। बिथरहु = बिखेर दिया है। पटबास = (पट्टवस्त्र) रेंशमी कपड़ा।

वसंत में सारी प्रकृति धुलकर धवल हो गयी है। पलास पुष्प की ललाई सिंदूर-बिंदु के समान खिल उठी है। बड़ा सुंदर चित्र है।

४४

दखिन पवन बह दस दिस रोल।
से जनि बादी भासा बोल।
मनमथ कां साधन नहिं आन।
निरसाएल से मानिनि-मान।
माइ हे सीत-वसंत-बिबाद।
कओन बिचारब जय-अबसाद।
दुहु दिसि मधय दिवाकर भेल।
दुजबर कोकिल साखी देल।
नव पल्लव जय-पत्रक-भाँति।
मधुकर-माला आखर-पाँति।
बादी तह प्रतिबादी भीत।
सिसर बिंदु हो अंतर सीत।
कुन्द-कुसुम अनुपम बिकसंत।
सतत जीत बेकताओ बसंत।
बिद्यापति कबि एहो रस भान।
राजा सिवसिंघ एहो रस जान।

रोल=(रोर) चहल-पहल। जनि····बोल=मानों वसंत विजय वार्ता कर रहा हो। से=वह। जनि=मानों। बादी=मुद्दई। निरसाएल=नीरस कर दिया। जय-अबसाद=जीत-हार। मधथ=मध्यस्थ। दुजबर=(द्विजवर) (१) ब्राह्मण-श्रेष्ठ, (२) पक्षि-श्रेष्ठ। जय-पत्र=विजय-पत्र, विजय का अभिलेखन-पत्र, डिक्री। मधुकर-माला=भ्रमर-समूह। आखर-पाँति=(अक्षर-पंक्ति) अक्षरों का समूह। बादी=मुद्दई (वसंत)। प्रतिबादी=मुद्दालेह (जाड़ा)। बादी तह···भीत सिसिर बिंदु····सीत=जाड़ा वसंत से डर गया जिससे ओस-बूँद के रूप में पसीने-पसीने हो गया। बेकताओ=(व्यक्त किया) प्रकट किया।

४५

अभिनव कोमल सुन्दर पात
सबारे बने जनि पहिरल रात
मलय-पवन डोलए बहु भाँति
अपन कुसुम-रस अपने माति
देखि देखि माधव मन हुलसंत
बिरिदावन भेल बेकत बसंत
कोकिल बोलए साहर भार
मदन पाओल जग नव अधिकार
पाइक मधुकर कर मधु-पान
भमि भमि जोहए मानिनि-मान
दिसि दिसि से भमि बिपिन निहारि
रास बुझावए मुदित मुरारि
भनइ विद्यापति ई रस गाव
राधा माधव अभिनव भाव।

पात=(पत्र) पत्ते। सबारे=संपूर्ण, सब। रात=लाल (वस्त्र का अध्याहार है)। सबारे बने····रात=मानों समस्त वन ने लाल वस्त्र

धारण कर लिया है। डोलए = बहता हो। माति = मत्त होकर। अपन कुसुम-रस अपने माति = (मंद पवन के चलने से सुगंधित पुष्प इधर-उधर हिल रहे हैं) मानों अपने रस में स्वयं पागल हो गये हैं। माधव = (१) कृष्ण, (२) वसंत। हुलसंत = प्रसन्न हुआ। बेकत भेल = (व्यक्त हुआ) प्रकट हुआ। साहर = सहकार (आम्रमंजरी)। पाइक = (पायक) दूत। मधुकर - भौंरा। भमि भमि = भ्रमि भ्रमि, घूम-घूमकर। जोहए = ढूँढ़ता है। निहारि = देखकर। बिपिन = वन।

४६

बाजत द्रिग द्रिग धौद्रिम द्रिमिया
नटति कलावति माति स्याम सँग
कर करताल प्रबंधक ध्वनियाँ
डम डम डंफ डिमिक ड्रिम मादल
                रुनझुन मंजीर बोल
किंकिन रनरनि बलआ कनकनि
निधुबन रास तुमुल उतरोल
                बीन, रबाब, मुरज स्वरमंडल
सा रि ग म प ध नि सा बहु बिध भाव
घटिता घटिता धुनि मृदंग गरजनि
चंचल स्वरमंडल करु राव
स्रम भर गलित लुलित कबरीजुत
मालति माल बिथारत मोति
समय बसत रास-रस-वर्णन
बिद्यापति मति छोभित होति।

वर्तमान काल के 'संवेदनावाद' का उदाहरण है। यहाँ शब्दों के प्रयोग में अर्थ पर उतना ध्यान नहीं रखा गया है जितना उनके नाम पर। इसमें विभिन्न वाद्यों का अनुभव शब्दों के सुनने मात्र से हो जाता है।

४७

माधव, तोंहे जनु जाह विदेस।
हमरा रंग-रभस लए जएबह,
लएबह कोन सँदेस।
बनहि गमन कए होएति दोसर मति,
बिसरि जाएब पति मोरा।
हीरा मनि मानिक एको नहि मागब,
फेरि मागब पहु तोरा।
जखन गमन कए नयन-नीर भए,
देखहु न भेल पहु ओरा।
एकहि नगर बसि पहु भेल परबस,
कइसे पुरत मन मोरा।
पहु सँग कामिनि बहुत सोहागिनि,
चंद्र निकट जैसे तारा।
भनइ विद्यापति सुनु बर जौवति,
अपन हृदय धरु सारा।

जनु = मत, न। जाह = जाओ। रंग-रभस = आनंद-विनोद। लए-बह = ले आएगा। बिसरि जाएब पति मोरा = हे पति मुझे भूल जाओगे। पहु = (प्रभु) पति। नयन-नीर = आँसू। पुरत = पूरा होगा। सारा = सार, धैर्य।

'पहु सँग कामिनि····तारा' में बहुत-से रहस्यवादी सीधी अभिव्यक्ति से संतुष्ट न होकर रहस्यवाद देखते हैं।

४८

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज,
की सरसिज बिनु सूरे।

जौबन बिनु तन तन बिनु जौबन,
की जौबन पिय दूरे।
चौदिस भमर भम कुसुम-कुसुम रम,
नीरस मॉंजरि पीबइ।
मंद पवन चल पिक कुहु कुहु कह,
सुनि बिरहिन कइसे जीबइ।
सिनेह अछल जत हम भेव न टूटत
बड़ बोल जत सब थोर।
अइसन के बोल वहु निज सिम तेजि कहु,
उछल पयोनिधि नीर।
भनइ विद्यापति अरेरे कमलमुखि,
गुनगाहक पिय तोरा।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन,
सहजे एको नहि भोरा।

सरसिज=कमल। सर=तालाब। सूरे=सूर्य। की=क्या, किस काम का। चौदिस-चारों ओर। भमर भम-भौंरे भ्रमण कर रहे हैं। नीरस मॉंजरि पीबइ=भौंरा रस पीते-पीते जब तक मंजरी नीरस न हो जाय तब तक पीता रहता है। अछल-था। भेव=रहस्य। बड़ बोल जत सब थीर=बड़ों का वचन असत्य नहीं होता। के=कौन। सिम=सीमा।

४९

लोचन धाए फेधाएल
हरि नहि आयल रे।
सिव सिव जिवओ न जाए
आस अरुझाएल रे।

मन करे तहाँ उड़ि जाइअ
जहाँ हरि पाइअ रे।
पेम परसमनि जानि
आनि उर लाइअ रे।
सपनहु संगम पाओल
रंग बढ़ाओल रे।
से मोरा बिहि बिघटाओल
निदओ हेराएल रे।
भनइ बिद्यापति गाओल
धनि धइरज धर रे।
अचिरे मिलत तोहि बालम
पुरह मनोरथ रे।

धाए-दौड़कर। फेंवाएल=फेन-भरे हो गये, फूल गये। जिवओ=प्राण भी। अरुझाएल = फँस गये हैं। आस अरुझाएल = (मिलान कीजिये :—

दुख न रहत रघुपतिहि विलोकत तनु न रहत बिनु देखे।
करत न प्रान पयान समुझि सखि अरुझि परी एहि लेखे॥

—गीतावली)।

मन करे = मन में आता है, इच्छा होती है। परसमनि = पारस पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है। उर लाइअ = छाती से लगा लूँ। पेम परसि · लाइअ रे = (मिलान कीजिये—

पायौ नाम चारु चिंतामनि उर कर तें न खसैहौं —विनयपत्रिका)। संगम=भेंट। पाओल=पाया। बिहि=(विधि) ब्रह्मा। बिघटाओल = (विघटन किया) नष्ट किया। निदओ हेराएल = नींद चली गयी। सपनहु···निदओ हेराएल=ब्रह्मा से सुख-स्वप्न भी न देखा गया। अब

तो नींद भी नहीं आती। फिर स्वप्न-दर्शन भी कैसे हो। धनि = बाले। धइरज = (धैर्य) साहस।। अचिरे = शीघ्र। पुरह = पूरा होगा।

विशेष— बहुतेरे इसे राधा के स्थान पर आत्मा की उक्ति परमात्मा के प्रति मानकर रहस्यवाद का पद मानते हैं।

५०

माधव हमर रटल दुर देस
केओ न कहइ सखि कुसल सनेस
जुग जुग जीवथु बसथु लाख कोस
हमर अभाग हुनक नहि दोस
हमर करम भेल बिहि बिपरीत
तेजलनि माधव पुरुबिल पिरीत
हृदय क बेदन बान समान
आन क दुख आन नहि जान
भनइ बिद्यापति कबि जयराम
दैब लिखल परिनत फल बाम

रटल = चला गया। केओ = कोई। सनेस = संदेश। जीवथु = जीएँ। बसथु = बसें। हुनक = उनका। बिहि = (विधि) ब्रह्मा। तेजलनि = त्याग दिया। पुरुबिल = (पूर्व सा) पहले का। बेदन = वेदना, दुःख। आन क = दूसरे का। बाम = प्रतिकूल।

५१

जौबन रूप अछल दिन चारि।
से देखि आदर कएल मुरारि।
अब भेल झाल कुसुम रस-छूछ।
बारि बिहुन सर केओ नहि पूछ।

हमरि ए बिनती कहब सखि रोय।
सुपुरुष बचन अफल नहि होय।

जावे रहइ धन अपना हाथ।
तावे से आदर कर सँग साथ।

धनिक क आदर सब तहँ होय।
निरधन बापुर पुछए न कोय।

भनइ विद्यापति राखब सील।
जो जग जीबिए नबओ निधि मील।

अछल = थे। से=वह। कएल = किया। झाल = गंधहीन। रस-छूछ = रसहीन। बारि बिहुन = पानी के बिना। केओ=कोई। अफल= व्यर्थ। जावे = जब तक। सँग-साथ = साथी-संगी। सब तहँ = (सर्वत्र) सब स्थान में। बापुर =बेचारा। जो जग जीबिए नबओ निधि मील = यदि संसार में जीती रही तब नवों निधियों की प्राप्ति है।

५२

सखि हे हमर दुख क नहि ओर
इ भर बादर माह भादर
सून मंदिर मोर
झंपि घन गरजंति संतत
भुवन भरि बरसंतिया
कंत पाहुन काम दारुन
सघन खर सर हंतिया
कुलिस कत सत पात मुदित
मयूर नाचत मातिया
मत्त दादुर डाक डाहुक
फाटि जायत छातिया

तिमिर दिग भरि घोर जामिनि
आथिर बिजुरि क पाँतिया
बिद्यापति कह कइसे गमाओब
हरि बिन दिन रातिया

ओर - सीमा। भर - भरे हुए। बादर=(बादल) मेघ। भादर= भाद्र। सून = (शून्य) खाली। झंपि = झुककर, घेरकर। संतत = हमेशा। कंत=पति। पहुन=प्रवासी। सघन=घने बादल। खरसर= तेज बाण। हंतिया = मारता है। कत = कई। सत = सौ। पात = गिरता है। मातिया मत्त है। डाक=बोलता है। डाहुक=एक पक्षी। दिग = (दिक्) दिशा। जामिन = (यामिनी) रात्रि। अथिर = (अस्थिर) चंचल। गमाओब - व्यतीत करूँगी।

विशेष—वर्षा का वर्णन सुंदर है। पर पाठक का ध्यान वर्षा की विभिन्न वस्तुओं और व्यापारों पर टिकने नहीं पाता, वह बार-बार विरह-वेदना की ओर चला जाता है। इसमें प्रेमी-हृदय की अवस्था की मार्मिक व्यंजना हुई है। समस्त आनंदप्रद वस्तुएँ विरहिणी को दुःखप्रद हो गयी हैं क्योंकि संयोग में जो प्रेम सृष्टि से आनंद का संग्रह करता था वही वियोग की दशा में सब वस्तुओं से दुःख का अनुभव कर रहा है।

५२

मोर पिया सखि गेल दुर देस।
जौबन दए गेल साल सनेस।
मास असाढ़ उनत नव मेघ।
पिया बिसलेख रहओं निरथेघ।
कोन पुरुष सखि कोन से देस।
करब मोयँ तहाँ जोगिनी भेस।
साओन मास बरसि घन बारि।
पंथ न सूझे निसि अँधिआरि।

चौदसि देखिए बिजुरि रेह।
से सखि कामिनि जीवन संदेह।

भादव मास बरिस घन घोर।
सब दिसि कुहुकए दादुर मोर।
चेहुँकि चेहुँकि पिया कोर समाय।
गुन मति सूतलि अंक लगाय।

आसिन मास आस धर चीत।
नाह निकारुन न भेलाह हीत।
सर बर खेलए चकवा हास।
बिरहिन बैरि भेल आसिन मास।

कातिक कंत दिगंतर बास।
पिय पथ हेरि हेरि भेलहुँ निरास।
सुख सुखराति सबहुँ का भेल।
हमें दुखसाल सोभागि बय गेल।

अगहन मास जीव के अंत।
अबहु न आएल निरदय कंत।
एकसरि हम धनि सूतओं आगि।
नाहक आओत जाएत मोहि आगि।

पूस खीन दिन दीघरि राति।
पिआ परदेस मलिन भेल कांति।
हेरओं चौदिस झंखओं रोय।
नाह बिछोह काहु जनि होय।

माघ मास घन पड़ए तुसार।
झिलमिल केचुआ उपत घन हार।
पुनमति सूतल पियतम कोर।
बिधि बस देव बाम भेल मोर।

फागुन मास धनि जीव उचाट।
बिरह-बिखिन भेल हेरओं बाट।
आयल मत्त पिक पंचम गाव।
से सुनि कनिनि जीवहुँ सताव।

चैत चतुरपन पिय परबास।
माली आने कुसुम बिकास।
भमि भमि भमरा कर मधुपान।
नागरि भइ पहु भेल असयान।

बैसाख तवे खर मरन समान।
कामनि कंत हने पँचबान।
नहि जुड़ि छाहरि न बरिस बारि।
हम जे अभागिनि पापिनि नारि।

जेठ मास ऊजर नवरंग।
कंत बहए खलु कामिनि-संग।
रूपनरायन पूरथु आस।
भनइ बिद्यापति बारह मास॥

साल = काँटा। सनेस = भेंट। उनत = (उन्नत) उभरे हुए। बिसलेख = (विश्लेष) वियोग। रहओं = रहती हूँ। निरथेघ = निरवलंब। 'मास असाढ़.....नव मेघ। पिया... रहओं निरथेघ = (मि० की० पदमावत में नागमति के बिरह से — पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मँदिर को छावा।) रेह = रेखा। से = वह। दादुल = दादुर, मेढक। कोर = (क्रोड़) गोद। सूतलि = सोयी। अंक = हृदय। आसिन = (आश्विन) क्वार का महीना। नाह = (नाथ) पति। निकारुन = (निष्करुण) निठुर। भेलाह = हुआ। दिगंतर = दूर। बास = निवास। सुखराति = दीपावली की रात। सोआमि = (स्वामी) पति। सुतओं जागि = जगकर सोती हूँ। नाहक = व्यर्थ। आओत =

आयेंगे। आगि=विरहाग्नि। दीघरि=(दीर्घ) बड़ी। खीन=(क्षीण) छोटा। काँति = (कांति) प्रभा। हेरओं = देखती हूँ। झँखओं = प्रतीक्षा करती हूँ। घन - बहुत। तुसार - (तुषार) बर्फ। केचुआ - कंचुकी। उनत थन = उन्नत वक्षःस्थल। धनि = बाला। बिखिन = (विक्षीण) बहुत दुबली। पिक = कोयल। सताव - दुःख देता है। परबास=प्रवास। नागर = चतुर। पहु = (प्रभु) प्रीतम। तबे तप्त हो जाता है, तपता है। खर - तेज। जुड़ि शीतल। छाहरि छाया। बरिस=बरसता है। बारि=पानी। ऊजर - उजड़ गये। खलु=निश्चय। पूरथु=पूरा करें।

विशेष—'बारहमासा' - वर्णन है। पर कवि की दृष्टि जितनी विरहिणी के विरह पर है उतनी ऋतुओं की विभिन्न वस्तुओं पर नहीं।

५४

लोचन - नीर - तटिनि निरमाने
करए कलामुखि तथिहि सनाने
सरस मृनाल करइ जपमाली
अहनिसि जप ह रनाम तोहारी
वृन्दावन कान्ह धनि तप करई
हृदय - बेदि मदनानल बरई
जिव कर समिध समर कर आगी
करति होम बध होएबह भागी
चिकुर बरहि रे समरि कर लेआई
फल उपहार पयोधर देआई
भनइ विद्यापति सुनहु मुरारी
तुअ पथ हेरइत अछि बर नारी

नीर = जल। लोचन-नीर = आँसू। तटिनि = नदी। कलामुखि = सुन्दरी। तथिहि = वहीं ही। लोचन-नीर.......तथिहि सनाने = उस

सुंदरी ने आँसुओं की नदी निर्मित कर ली है और उसी में स्नान करती रहती है अर्थात् दिन-रात रोती रहती है (विषाद या अश्रु के आधिक्य की व्यंजना)। मृणाल = कमल डंडी। करइ = करती है, बनाती है। जपमाली = सुमिरनी। अहनिसि = (अहर्निश) रात-दिन। धनि = बाला। समिध = (समिधा) हवन में जलायी जानेवाली लकड़ी। समर = (स्मर) काम। आगी = अग्नि। जिब कर समिध....होएबह भागी = वह काम (विरह) की अग्नि करके अपने प्राणों की समिधा जलाया करती है (वह आपके विरह में मरी जा रही है), अतः आप उसकी हत्या के भागी होंगे। अछि = हैं।

५५

अकामिक मंदिर भेलि बहार।
चहुँदिस सुनलक भमर-झंकार॥
मुरछि खसल महि न रहलि थीर।
न चेतए चिकुर न चेतए चीर॥
केओ सखि बेनि धुन केओ धुरि झार।
केओ चानन अरगजओं सँभार॥
केओ बोल मंत्र कानतर जोलि।
केओ कोकिल खेद डाकिनि बोलि॥
अरे अरे अरे कान्ह की रभसि बोरि।
मदन-भुअंग डसु बालहि तोरि॥
भनइ विद्यापति एहो रस भान।
एहि विष गारुड़ि एक पए कान॥

अकामिक = अचानक। भेलि = हुई। बहार = बाहर। सुनलक = सुना। भमर-झंकार = भौंरों का गुंजार। खसल = गिर पड़ी। महि = पृथ्वी। थीर = स्थिरता। चेतए = ध्यान, सम्हार। केओ = कोई। बेनि = बेणी। धुन = साफ करना। झार = झाड़ना। चानन = चंदन। अरगजा =

एक प्रकार का सुगंधित लेप जो कस्तूरी, केसर इत्यादि से बनाया जाता है। कानतर = कान के नीचे। जोलि = जोर से। खेद = दूर करती है, खदेड़ती है। की रभसि बोरि = श्रीकृष्ण को शीघ्र ही बुलाओ। गारुड़ि = मंत्र से साँप का विष उतारनेवाला। एक पए = एकमात्र।

५६

माधव, कठिन हृदय परबासी।
तुअ पेअसि मोय देखल बियोगिनि
अबहु पलटि घर जासी।
हिमकर हेरि अवनत कर आनन
कर करुना पथ हेरी।
नयनक काजर लए लिखए बिधुंतुद
भय रह ता हेरि से रो।
दखिन पवन बह से कइसे जुबति सह
कर कवलित तनु अंगे।
गेल परान आस दए राखए
दस नख लिखए भुजंगे।
मीनकेतन भय सिब सिब सिव कय
धरनि लोटाबए देहा।
कर रे कमल लए कुच सिरिफल दए
सिव पूजए निज गेहा।
परभृत के डर पायस लए कर
बायस निकट पुकारे।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
करथु बिरह उपचारे।

परबासी = (प्रवासी) विदेश में रहनेवाला। पेअसि = (प्रेयसी) प्रेमिका'। जासी = जाते। हिमकर = चंद्रमा। अवनत = झुकाकर, नीचे

कर। करु करुना = रोती है। पथ हेरी = रास्ता देखकर। बिधुंतुद = राहु। ता हेरि से री = चंद्र भय से वह उसी को देखती रहती है। से = वह। कबलित = खा जाना। गेल = गया हुआ। मीनकेतन = कामदेव। कर रे कमल = हाथ रूपी कमल लेकर। सिरिफल = (श्रीफल) बेल, नारियल। परभृत = कोयल। पायस = खीर। बायस = कौआ। करथु = करे। उपचार = उपाय।

मिलान कीजिए—

गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि-बाहन तहँ रहै ओनाई।
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागै।

—जायसी

मन राखन को बेनु लियौ कर मृग थाके उड़पति न चरै।
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यौ कर जेहि भामिनि को करुन टरै॥

—सूरदास

५७

सरद क ससधर मुखरुचि सौंपलक
हरिन के लोचन-लीला।
केसपास लए चमरि के सौंपलक
पाए मनोभव पीला।
माधव, जानल न जीवति राही।
जतवा जकर ले ले छलि सुन्दरि
से सब सौंपलक ताही।
दसन-दसा दालिम के सौंपलक
बंधु अधर-रुचि देली।
देह-दसा सौदामिनि सौंपलक
काजर सनि ससि भेली।

भौंह क भंग अनंग-चाप दिहु
कोकिल के दिहु बानी।
केवल देह नेह अछ लओले
एतबा अएलहुँ जानी।
भनइ विद्यापति सुन बर जौवति
चित्त झंखह जनु आने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन
लखिमा देइ रमाने।

सरद क = शरद् का। ससधर = चंद्रमा। मुखरुचि = मुख की शोभा। सोंपलक = समर्पित किया। चमरि = वह गाय जिसकी पूँछ का चमर बनता है। मनोभव = कामदेव। पीला = पीड़ा। जतबा = जितना। जाकर = जिसका। ले ले छलि = लिये हुए थी। दालिम = दाड़िम। बंधु = बंधूक पुष्प। सौदामिनि = बिजली। सनि = समान। अनंग-चाप दिहु = कामदेव के धनुष को दिया। अछ = है। एतबा = इतना। झंखई = झीखना।

विद्यापति का यह शरद्-वर्णन अपने ढंग का अनूठा है।

५८

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल
अपने गुन लुबधाई।
माधव, अपरुब तोहर सिनेह।
अपने बिरह अपन तनु जरजर
जिवइत भेलि सँदेह।
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छलछल लोचन पानि।

अनुखन राधा राधा रटइत
आधा आधा बानि।
राधा सयँ जब पुनतहि माधव
माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत
बाढ़त बिरह क बाधा।
दुहु दिसि दारु-दहन जैसे दगधइ
आकुल कीट-परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि
कबि बिद्यापति भान।

अनुखन = प्रतिक्षण। सुमरइत = स्मरण करते-करते। सुंदरि = राधा। भेलि मधाई = कृष्ण ही हो गयी। अपरुब = (अपूर्व) विचित्र। सिनेह=(स्नेह) प्रेम। दिठि = दृष्टि। हेरि = देखकर। आधा बानि = अधूरी बात। सयँ = से। पुनतहि = फिर से। दारु-दहन = काठ का जलना। कीट-परान = कीड़ा रूपी प्राण। इस छन्द में प्रेम की चरम सीमा दिखलायी गयी है। जब प्रेमिका प्रियमय हो जाती है, वह अपनी सत्ता भूल जाती है और उसके व्यक्तित्व का प्रिय के व्यक्तित्व में लय हो जाता है। राधिका कृष्ण का स्मरण करते-करते प्रेमविभोर होकर अपने को कृष्ण समझ राधे-राधे चिल्लाने लगती हैं। जब होश आता है तब कृष्ण के लिए व्याकुल हो उठती हैं। सांराश यह कि उन्हें किसी दशा में शांति नहीं मिलती।

विशेष—विरहोन्माद द्वारा आश्रय और आलंबन की एकता दिखलायी गयी है जो प्रेमभाव की चरम सीमा है।

विरहोन्माद भी बहुत ही स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है।

५९

सुनु रसिया,

अब न बजाउ बिपिन बँसिया।

बार बार चरनारबिंद गहि

सदा रहब बनि दसिया।

कि छलहुँ कि होएब से के जाने

बृथा होएत कुल-हसिया।

अनुभव ऐसन मदन-भुजंगम

हृदय मोर गेल डसिया।

नंदनंदन तुअ सरन न त्यागब

बरु जग होए दुरजसिया।

बिद्यापति कह सुनु बनितामनि

तोर मुख जीतल ससिया।

धन्य धन्य तोर भाग गोआरिनि

हरि भजु हृदय हुलसिया।

रसिया = रसिक। बँसिया=वंशी। चरनारबिंद = कमल-रूपी चरण। गहि=पकड़कर। दसिया = दासी। कि = क्या। छलहुँ=थी। होएब = होऊँगी। से = वह। के = कौन। कुल-हसिया=कुल की निंदा। ऐसन = इस प्रकार। मदन-भुजंगम = काम-रूपी सर्प। गेल डसिया = डस लिया, काट खाया। बरु = बल्कि, भले ही। दुरजसिया = अपयश। बनितामनि = स्त्रियों में श्रेष्ठ। जीतल = जीत लिया। ससिया = (शशि) चन्द्रमा। गोआरिनि = ग्वालिनि (राधिका)। हुलसिया = प्रसन्नता से।

६०

सखि, कि पुछसि अनुभव मोय ।

सेहो पिरित अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होय ।

जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल ।

सेहो मधु बोल स्रवनहि सूनल
स्रुति-पथ परस न भेल ।

कत मधु-जामिनि रभस गमाओल
न बूझल कइसन केल ।

लाख लाख जुग हिय हिय राखल
तइयो हिय जुड़ल न गेल ।

कत बिदगध जन रस अनुमोदई
अनुभव काहु न पेक ।

बिद्यापति कह प्रान जुड़ाएत
लाखे न मिलल एक ।

कि = क्या । पुछसि = पूछती हो । मोय = मुझसे । से हो=वही । तिल तिल = क्षण-क्षण । निहारल = देखा । तिरपित = तृप्त, संतुष्ट । स्रवनहि = कानों से । परस = स्पर्श, छूना । मधु-जामिनि = मिलन की रात्रि । रभस=विलास । गमाओल=व्यतीत की । केल=(केलि) क्रीड़ा । तइओ=तो भी । जुड़ल न गेल=शीतल न हुआ । बिदगध=(विदग्ध) रसिक । रस अनुमोदई = उपभोग करते हैं । पेक = देखना ।

विशेष—सौंदर्य, प्रेम और प्रणय के स्वरूपों के साथ प्रेम की उत्कृष्टता दिखलायी गयी है ।

मिलान कीजिए—

एहि संसार सार वथु एक
तिला एक संगम जाव जिव नेह। —विद्यापति।

६१

कनक-भूधर शिखर-वासिनि
चंद्रिका - चय - चारु - हासिनि
दसन - कोटि - विकास, बंकिम
तुलित-चंद्रकले।

क्रुद्ध - सुररिपु - बल - निपातिनि
महिष - शुंभ - निशुंभ - घातिनि
भीत - भक्त - भयापनोदन
पाटल-प्रबले।

जय देवि दुर्गे दुरिततारिणी
दुर्गमारि - विमर्द - हारिणि
भक्ति - नम्र सुरासुराधिप
मंगलायतरे।

गगन - मंडल गर्भगाहिनि
समरभूमिषु सिंहवाहिनि
परशु - पाश - कृपाण - सायक
शंख-चक्र धरे।

अट्ट - भैरवि - संग - शालिनि
सुकर कृत्त कपाल (कबंध) मालिनि
दनुज - शोणित - पिशित - वर्द्धित
पारणा-रभसे।

संसार - बंध - निदान - मोचनि
चंद्र - भानु - कृशानु - लोचनि
योगिनी - गण - गीत - शोभित
नृत्यभूमि-रसे ।

जयति पालन - जनन - मारण-
रूप कार्य - सहस्र - कारण
हरि - विरिंचि - महेश - शेखर-
चुंब्यमानपदे ।

सकल - पापकला - परिच्युति
सुकवि - विद्यापति - कृतस्तुति-
तोषिते शिवसिंह - भूपति-
कामना-फलदे ।

कनक भूधर=सुमेरु पर्वत । शिखर=चोटी । चय=समूह । कोटि=अग्रभाग । सुररिपु राक्षस । भयापनोदन=भय को नष्ट करने के लिए । पाटल=गुलाब के समान । दुरिततारिणी=पाप से उद्धार करनेवाली । दुर्गमारि=प्रबल शत्रु । विमर्द=अच्छी तरह नष्ट करके । गर्भ-गाहिनि=आंतरिक भाग में विचरण करनेवाली । भूमिषु=भूमि में । सुकर-कृत्त""मालिनि=अपने हाथों द्वारा काटे हुए सिरों की बनी माला धारण करनेवाली । पेशित=कच्चा मांस । कृशानु=अग्नि । परिच्युति=हीनता, रहित होना ।

६२

जय जय संकर जय त्रिपुरारि ।
जय अधपुरुष जयति अधनारि ।।

आध धवल तनु आधा गोरा ।
आध सहज कुच आध कटोरा ।।

आध हड़माल आध गजमोती।
आध चानन सोहे आध बिभूती॥
आध चेतन मति आधा भोरा।
आध पटोर आध मुँज-डोरा॥
आध जोग आध भोग-बिलासा।
आध पिधान आध नगबासा॥
आध चान आध सिंदुर सोभा।
आध बिरूप आध जग लोभा॥
भने कबिरतन बिधाता जाने।
दुइ कए बाँटल एक पराने॥

आध=(अर्द्ध) आधा। नारि=स्त्री। हड़माल=हड्डी की माला। चानन=चंदन। पटोर=रेशम। पिधान = (परिधान) वस्त्र। नगबासा=हाथी के चर्म का वस्त्र। चान=(चन्द्र) चन्द्रमा। आध जग लोभा=ऐसा सुंदर जिसे देखकर संसार मोहित हो जाता है। दुइ कए बाँटल एक पराने=दो शरीर में एक प्राण।

अर्धनारीश्वर महादेव की स्तुति है। इसमें आधा वर्णन शिव का और आधा पार्वती का है।

६३

भल हर भल हरि भल तुअ कला।
खन पीत बसन खनहि बघछला॥
खन पंचानन खन भुजचारि।
खन संकर खन देव मुरारि॥
खन गोकुल भए चराइअ गाय।
खन भिखि माँगिए डमरू बजाय॥

खन गोबिंद भए लिए महादान।
खनहि भसम भरु काँख बोकान॥

एक सरीर लेल दुइ बास।
खन बैकुण्ठ खनहि कैलास॥

भनहि बिद्यापति बिपरित बानि।
ओ नारायन ओ सूलपानि॥

हर=महादेव। हरि=विष्णु। तुअ=तुम्हारी। पीत बसन=पीत वस्त्र, पीतांबर। खन=(क्षण) शीघ्र ही। पंचानन=पाँच मुखवाले शिव। भुजचारि=चतुर्भुज विष्णु। बोकान=छाती। सूलपानि=महादेव।

इस पद में विद्यापति का समन्वय-सिद्धांत मिलता है। उनकी दृष्टि से शिव और विष्णु का भेद तात्त्विक नहीं है, औपचारिक ही है।

६४

तातल सैकत बारि-बिंदु सम
सुत मित रमनि समाज।
तोहे बिसारि मन तोहे समरपिनु
अब मझु हब कोन काज।
माधव हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय
अतए तोहार बिसवासा।
आध जनम हम नींद गमायनु
जरा सिसु कत दिन गेला।
निधुबन रमनि-रभसि-रंग-मातनु
तोहे भजब कोन बेला।

कत चतुरानन मरि मरि जाओत
न तुअ आदि अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत
सागर लहरि समाना।
भनइ विद्यापति सेष समन भय
तुय बिनु गति नहि आरा।
आदि अनादि नाथ कहाओसि
अब तारन-भार तोहारा॥

तातल=(तप्त) गरम। सैकत=बालू। बारि-बिंदु=पानी की बूँद। तातल सैकत बारि-बिंदु सम······समाज = धन-जन गरम बालू में पड़नेवाले जलबिंदु के समान क्षणिक हैं। मित=मित्र। समरपिनु=(समर्पित किया) दिया। अतए=इतना ही। जरा=बुढ़ापा। जरा सिसु कत दिन गेला=यौवन में आधा जीवन सोकर बिता दिया, शैशव और वार्धक्य में भी न जाने कितना समय बेकार गया, बुढ़ापे में शरीर को सँभालने में और शैशव में खेलने-कूदने में। निधुबन=कामक्रीड़ा। रमनि-रभस-रंग=भोग-विलास। मातनु = मत्त होकर। बेला=समय। चतुरानन = ब्रह्मा। तोहे=तुझसे। समाओत=विलीन हो जाता है। आरा = और। सेष समन भय तुय बिनु गति नहि आरा=शेष जीवन में भय का शमन करने के लिए तुम्हें छोड़कर दूसरा नहीं है।

'तोहे जनमि····सागर लहरि समाना' में ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया गया है।

पद-प्रतीक